अर्धमागधी आगमांचे विविध आयाम

(खंड १)

(आचारांग – सूत्रकृतांग)

सेठ हिराचंद नेमचंद जैन अध्यासन

फिरोदिया प्रकाशन

तत्त्वज्ञान विभाग

पुणे विद्यापीठ

पुणे ४११००७

२०१४

नलिनी जोशी

- *अर्धमागधी आगमांचे विविध आयाम*
  (हिंदी–मराठी–संयुक्त)

- *संपादन*
  डॉ. नलिनी जोशी

- *संपादन सहाय्य*
  डॉ. अनीता बोथरा, जैन अध्यासन
  डॉ. कौमुदी बलदोटा, जैन अध्यासन

- *प्रकाशक*
  फिरोदिया प्रकाशन, सेठ हिराचंद नेमचंद जैन अध्यासन,
  तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विद्यापीठ, गणेशखिंड, पुणे ४११००७

- *प्राप्तिस्थान*
  सन्मति–तीर्थ (प्राकृत व जैनविद्या संशोधन संस्था)
  ८४४, शिवाजीनगर, बी.एम.सी.सी. रोड,
  फिरोदिया होस्टेल, पुणे. ४११००४
  दूरध्वनी : (०२०) २५६७१०८८

- *सर्व हक्क सुरक्षित :* केवळ खाजगी वितरणासाठी

- *प्रकाशन :* जानेवारी २०१४

- *प्रथम आवृत्ती*

- *मूल्य :* रु. ३००/-

- *अक्षर संयोजन :* श्री. अजय जोशी

- *मुद्रक :* *कल्याणी कॉर्पोरेशन,*
  १४६४, सदाशिव पेठ, पुणे. ४११०३०
  फोन : (०२०) २४४७१४०५

* संपादकीय *

पुणे विद्यापीठातील जैन अध्यासनाच्या माध्यमातून गेली पाच वर्षे, क्रमाक्रमाने अर्धमागधी भाषेतील 'अंग-ग्रंथ' 'सन्मति-तीर्थ' संस्थेच्या सक्रिय सहयोगाने, 'फिरोदिया सभागृहात' शिकविण्याचे कार्य मन:पूर्वक करीत आहे. जैन विद्येच्या क्षेत्रात १०-१२ वर्षे सन्मतीच्या माध्यमातून प्रगत अध्ययन केलेल्या सुमारे ८० प्रौढ स्त्री-पुरुषांनी या अभ्यासवर्गाला अभूतपूर्व प्रतिसाद दिला. अजूनही देत आहेत.

१५ जून २००९ ते १५ एप्रिल २०१३ या कालावधीत आचारांग (खंड १-२) आणि सूत्रकृतांग (खंड १ - २) या ग्रंथांतील वेचक भागांचा भाषिक, दार्शनिक आणि तौलनिक दृष्टीने समीक्षात्मक अभ्यास केला. प्रतिवर्षी, त्या अभ्यासक्रमावर आधारित अशी निबंध-वाचनाची सत्रे आयोजित करण्यात आली. प्रत्येक विद्यार्थ्याने वेगळा विषय घेऊन, त्या आगम-ग्रंथाचा वेगळा पैलू नजरेसमोर आणला. त्यावर योग्य ते संपादकीय संस्कार करून प्रस्तुत पुस्तक तयार केले आहे.

स्व. नवलमलजी फिरोदिया यांनी जैन अध्यासनास प्रकाशनासाठी उपलब्ध करून दिलेल्या निधीतून हे पुस्तक प्रकाशित करीत आहोत. त्यांच्या स्फूर्तिप्रद स्मृतीला विनम्र प्रणाम ! आपल्या पित्याचे कार्य पुढे सुरू ठेवणाऱ्या मा. अभयजी फिरोदिया यांना, त्यांच्या अमूल्य सहकार्याबद्दल शतश: धन्यवाद !

डॉ. नलिनी जोशी

प्राध्यापिका, जैन अध्यासन

आचारांग – विविध आयाम

(श्रुतस्कंध १ आणि २)

आचारांग – विविध आयाम
(श्रुतस्कन्ध १, २)

अनुक्रमणिका

क्र. शीर्षक	लेखक	पृष्ठ क्र.
(१) आचारांग – प्रस्तावना		१
(२) आचारांगसूत्र (१-२) के विविध आयाम	डॉ. नलिनी जोशी	१२
(३) आचारांग : विद्यार्थियों के विचार-उन्मेष		
१) महावीरांच्या दृष्टीने वीर कोण ?	डॉ. नलिनी जोशी	१७
२) ऐश्वर्यातील दारिद्र्य	सीमा सुराणा	२१
३) आचारांग : मनोवैज्ञानिक दृष्टी	संगीता कटारिया	२३
४) मलमूत्रविसर्जनाची खबरदारी	मदनबाई लोढा	२६
५) ईर्यैषणा : श्रावकांची	कांता गांधी	२८
६) भाषैषणा अध्ययन में नारीविचार	अर्जुन निर्वाण	३०
७) आचारांगकालीन खाद्यसंस्कृति	सविता मुनोत	३२
८) अहिंसा परमो धर्म:	मंजु चोपडा	३३
९) भाषाजात अध्ययन : काही विचार	सुमतिलाल भंडारी	३५
१०) ईर्यैषणा आणि प्रदूषण	लता बागमार	३७
११) आचारांग : उपोद्घात आणि उपसंहार	ज्योत्स्ना मुथा	४०
१२) आत्मजिज्ञासेपासून आत्मदर्शनापर्यंत	पारमिता खणसे	४२
१३) आचारांग में सामाजिक उत्सव	संगीता मुनोत	४४
१४) जैन बौद्ध आचार विचार : साम्य-भेद	शकुंतला केमकर	४६
१५) आचारांगात वनस्पती आणि पर्यावरण	साधना देसडला	४९

क्र. शीर्षक	लेखक	पृष्ठ क्र.
१६) साधु आचारास श्रावक कसा पूरक ठरेल?	शोभा लोढा	५१
१७) साधूंची रोगचिकित्सा	कमल बोथरा	५३
१८) महावीरांनी निरीक्षणाला दिलेले महत्त्व	कल्पना मुथा	५५
१९) कर्मप्रवृत्ति एवं हिंसा	अर्जुन निर्वाण	५७
२०) आचारांगाचा मौल्यवान संदेश	शकुंतला चोरडिया	५९
२१) आचारांग : एक चिंतन	कमला खिंवसरा	६१
*** आचारांग – काव्यकुंज**		
१) आचारांग – काव्यातून	डॉ. नलिनी जोशी	६३
२) आचारांग बोध	मृणालिनी छाजेड	६७
३) काव्यातून भाषाजात	ललिता ओसवाल	६९
४) णत्थि कालस्स णागमो	शकुंतला चोरडिया	७१
५) मला उमगलेले भाषाजात	आशा कांकरिया	७४

.१.

आचारांग-प्रस्तावना

अर्धमागधी आगम ग्रन्थ जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग माना जाता है । अर्धमागधी में आज जो आगम उपलब्ध हैं वे श्वेताम्बर परम्परा में महावीरवाणी नाम से जाने जाते हैं । आधुनिक काल में आगमों की संख्या के बारे में दो मान्यताएँ हैं । एक मान्यता के अनुसार अर्धमागधी आगम ३२ हैं तो दूसरी मान्यता के अनुसार ४५ हैं । प्रकीर्णकों की अमान्यता तथा मान्यता के कारण यह संख्या-भेद है । ४५ आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है ।

१) ११ अंग (१२ वाँ दृष्टिवाद)
२) १२ उपांग
३) ४ मूलसूत्र
४) ६ छेदसूत्र
५) १० प्रकीर्णक
६) २ चूलिकासूत्र (नन्दी तथा अनुयोगद्वार)

क्रमांक	**अर्धमागधी**	**संस्कृत**
१.	आयारंग	आचाराङ्ग
२.	सूयगडंग	सूत्रकृताङ्ग
३.	ठाणंग	स्थानाङ्ग
४.	समवायंग	समवायाङ्ग
५.	वियाहपण्णत्ति	व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)
६.	नायाधम्मकहा	ज्ञाताधर्मकथा
७.	उवासगदसा	उपासकदशा
८.	अंतगडदसा	अंतकृद्दशा
९.	अणुत्तरोववाइयदसा	अनुत्तरौपपातिकदशा
१०.	पण्हावागरण	प्रश्नव्याकरण
११.	विवागसुय	विपाकसूत्र (श्रुत)
१२.	दिट्ठिवाय	दृष्टिवाद

नन्दीसूत्र के अनुसार श्रुत के दो भेद बताए गये हैं । अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट । अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि बारह भेद हैं जो द्वादशांगी नाम से प्रसिद्ध है । अंग-आगम छोडकर बाकी के जो उपांग वगैरह हैं उनको अंगबाह्य कहा जाता है ।

जैन परम्परा के अनुसार 'पूर्व' नामक ग्रन्थ श्रुतज्ञान का अक्षयकोष है । पूर्वों की संख्या १४ बतायी गई है । ज्ञानी मुनियों के विशेषण पूर्वों के अध्ययन से सम्बन्धित दिखाई देते हैं । जैसे चतुर्दशपूर्वधारी, दशपूर्वधारी इ. । भ. महावीर की श्रुतराशि १४ पूर्व या दृष्टिवाद नाम से जानी जाती थी । लेकिन भ. महावीर के समय ही १४ पूर्वों के अतिरिक्त दृष्टिवाद का जो भाग था वह लुप्त हुआ था। भ. महावीर ने जो उपदेश दिये वह १४ पूर्वों के आधारपर ही दिये । ग्यारह गणधरों ने उनके उपदेश के आधार से आचारांग आदि ११ अंगों की रचना की। यद्यपि दृष्टिवाद अनुपलब्ध था तथापि परम्परा की दृष्टि से उन्होंने दृष्टिवाद को बारहवें क्रम पर रखा । इस प्रकार द्वादशांगी गणिपिटक बन गया ।

द्वादशांगी में आचारांग का स्थान पहला है । इसके बारे में दो मत हैं । एक मत के अनुसार आचारांग स्थापना-क्रम की दृष्टि से पहला है लेकिन रचनाक्रम की दृष्टि से अन्तिम है । निर्युक्तिकार भद्रबाहु के अनुसार रचना और क्रम दोनों की दृष्टि से आचारांग ही प्रथम है । निर्युक्ति तथा भाष्य में आचारांग के बारे में जो जानकारी मिलती है, उसके आधारपर हम कह सकते हैं कि आ. भद्रबाहु ने आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध की ('आयारचूला' की) रचना की और उसके पश्चात् दो श्रुतस्कन्धों की व्यवस्था की । मूलभूत प्रथम अंग का नाम आचारांग अथवा ब्रह्मचर्य अध्ययन है । निर्युक्ति में इसे नव-ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक कहा

है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भी दो नाम हैं – आयारग्ग (आचाराग्र) और आयारचूला (आचारचूला) । निर्युक्ति में आचारांग के दस पर्यायवाची नाम इस प्रकार बताये हैं ।

१. आयार – यह आचरणीय का प्रतिपादक है, इसलिए 'आचार' है ।

२. आचाल – यह निबिड बन्धन को कम्पित करता है, इसलिए 'आचाल' है ।

३. आगाल – यह चेतना को समभाव में अवस्थित करता है, इसलिए 'आगाल' है ।

४. आगर – यह आत्मिक–शुद्धि के रत्नों का उत्पादक है, इसलिए 'आगर' है ।

५. आसास – यह सन्त्रस्त चेतना को आश्वासन देने में क्षम है, इसलिए 'आश्वास' है ।

६. आयरिस – इसमें 'इति–कर्तव्यता' देखी जा सकती है, इसलिए यह 'आदर्श' है ।

७. अंग – यह अन्तस्तल में स्थित अहिंसा आदि को व्यक्त करता है, इसलिए 'अङ्ग' है ।

८. आइण्ण – इसमें आचरित–धर्म का भी प्रतिपादन है, इसलिए यह 'आचीर्ण' है ।

९. आजाइ – इससे ज्ञान आदि आचारों की प्रसूति होती है, इसलिए आजाति है ।

१०. आमोक्ख – यह बन्धन–मुक्ति का साधन है, इसलिए 'आमोक्ष' है ।

आचारपंचक

आचारांग के व्याख्याकारों ने बताया है कि आचारांग में १) ज्ञानाचार २) दर्शनाचार ३) चारित्राचार ४) तपाचार और ५) वीर्याचार वर्णित है । इसका मतलब यह नहीं है कि हमारे सामने जो आचारांग उपलब्ध है उसमें क्रमसे आचार आये हैं । फिर भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य ये सब मुद्दे आचारांग के सभी अध्ययनों में निहित हैं । इस पंचविध आचार का मूल स्रोत आचारांग ही है । जैसे कि सत्थपरिण्णा आदि अध्ययनों में प्रमुखता से ज्ञानाचार; सम्मत्त आदि अध्ययनों में प्रमुखता से दर्शनाचार; लोगसार, धुय आदि अध्ययनों में प्रमुखता से चारित्राचार; सीओसणिज्ज, विमोक्ख आदि अध्ययनों में तपाचार और उवहाण-सुय आदि अध्ययनों में प्रमुखता से वीर्याचार वर्णित है ।

'आचार' शब्द का एक विशिष्ट अर्थ उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्पष्ट किया है । पाँच समिति, तीन गुप्ति, परिषह आदि स्वरूप जो मुनिआचार है, उन सबका मूल स्रोत आचारांग ही है । लेकिन आचारांग के सूत्रों का अगर हम अर्थ-दृष्टि से अवलोकन करें तो यह मालूम पडता है कि सभी जीवों के प्रति संवेदनशीलता तथा विचारचेतना की जागृति करना ही आचारांग का प्रयोजन है। उत्तरवर्ती काल में जिस प्रकार कर्मकाण्डात्मक आचार स्थापित हुआ उसका पारिभाषिक और क्रमबद्ध स्वरूप आचारांग में नहीं दिखाई देता । इसी विचार से शायद उत्तरवर्ती आचार्यों ने (प्राय: भद्रबाहु ने) एषणास्वरूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की होगी ।

आचारांग : बाह्य रचना

आचारांग सूत्र का द्वादश अंगों में महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिए इसे अंगों का सार कहा है । 'सामायिक' नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है । निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों के आचार-विचार का यहाँ विस्तार से वर्णन है । इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं । प्रथम श्रुतस्कन्ध में ९ अध्ययन हैं जो 'बंभचेर' (ब्रह्मचर्य) कहलाते हैं । इनमें ४४ उद्देशक हैं । द्वितीय श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं जो तीन चूलिकाओं में विभक्त हैं । दोनों के विषय और वर्णनशैली देखकर जान पडता है कि पहला श्रुतस्कन्ध दूसरे की अपेक्षा अधिक मौलिक और प्राचीन है । यह गद्य और पद्य दोनों में है, कुछ गाथाएँ अनुष्टुप् छन्द में हैं । इसकी भाषा प्राचीन प्राकृत का नमूना है । 'एवं मे सुयं' (ऐसा मैंने सुना है), 'त्ति बेमि' (ऐसा मैं कहता हूँ) आदि वाक्य प्राचीनता के द्योतक हैं ।

इस ग्रन्थ सूत्र पर आ. भद्रबाहु ने निर्युक्ति, जिनदासगणि ने चूर्णि और शीलांक (इ.स.८) ने वृत्ति लिखी है ।

आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) की विषयवस्तु

क्र.	**नाम**	**उद्देशक**	**विषय**
१.	शस्त्र-परिज्ञा	७	जीवसंयम, षड्जीवकाय-यतना ।
२.	लोक-विजय	६	बन्ध और मुक्ति का प्रबोध, लौकिक सन्तान का गौरव-त्याग ।
३.	शीतोष्णीय	४	सुख-दु:ख तितिक्षा, शीत-उष्ण आदि परिषहों पर विजय ।
४.	सम्यक्त्व	४	सम्यक्-दृष्टिकोण, अप्रकम्पनीय-सम्यक्त्व ।

५.	लोकसार	६	असार का परित्याग और लोक में सारभूत रत्नत्रयी की आराधना, संसार से उद्वेग ।
६.	धुत	५	अनासक्ति, कर्मों को क्षीण करने का उपाय ।
७.	महापरिज्ञा	(लुप्त)	मोह से उत्पन्न परिषहों और उपसर्गों का सम्यक् सहन, वैयावृत्य ।
८.	विमोक्ष	८	निर्याण (अन्तक्रिया) की सम्यक्-साधना, तपस्या की विधि ।
९.	उपधान-श्रुत	४	भगवान् महावीर द्वारा आचरित आचार का प्रतिपादन, स्त्री-संग-त्याग ।

अध्ययनों के शीर्षकों का अर्थ

१. **प्रथम अध्ययन :** प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा (सत्थपरिण्णा) है। 'शस्त्र' का मतलब है हिंसा का उपकरण । इस अध्ययन में द्रव्यशस्त्रों की तनिक भी चर्चा नहीं है । मन, वचन और काया से जो-जो भी अनुचित व्यवहार हम खुद से, दूसरों से करते हैं उसे ही यहाँ 'शस्त्र' कहा है । परिज्ञा (परिण्णा) शब्द का अर्थ है -

i) हमारे आसपास में जिन जिन चीजों का अस्तित्व है उन सबका स्वरूप ठीक तरह से जानना ।

ii) उनके प्रति आत्म्यौपम्य बुद्धि से विवेकपूर्ण बर्ताव करना तथा

iii) इसके फलस्वरूप हिंसारूपी शस्त्र से विरत याने निवृत्त होना ।

iv) इतना सारा गर्भित अर्थ इस 'परिज्ञा' शब्द में अभिप्रेत है । प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय जीवनसंयम और अहिंसा है । प्रस्तुत अध्ययन का आरम्भ खुद के अस्तित्व की जिज्ञासा से होता है ।

२. **द्वितीय अध्ययन :** द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय (लोगविजय) है । 'लोक' शब्द के अनेक अर्थ हैं लेकिन यहाँ लोक का मतलब है 'परिग्रह' और 'आसक्ति'। अपरिग्रह की वृत्ति और अनासक्त जीवन जीने का उपदेश इसमें है । स्वजन में आसक्ति न करना, विषय और कषायों को ढील नहीं देना, जाति आदि का मद नहीं करना, भोगों में आसक्त न होना, एकलविहार न करना तथा ममत्व का वर्जन करना, ये सब लोकविजय के साधन हैं ।

इस अध्ययन का पर्यायी नाम 'लोकविचय' भी दिया गया है। विचय का एक अर्थ 'परिग्रह' है (वि+चि धातु के अनुसार) । कुछ अभ्यासकों के अनुसार प्राकृत शब्द 'विचय' का संस्कृत रूप 'विजय' बन जाता है। 'ममायमाण' (ममत्व रखनेवाला) तथा 'परिगिज्झ' (आसक्त होकर) इन दो पदों से तो 'लोभविजय' यह अपरनाम भी इस अध्ययन के लिए अर्थपूर्ण है ।

३. **तृतीय अध्ययन :** तृतीय अध्ययन का नाम शीतोष्णीय (सीओसणिज्ज) है । साधनाकाल में आनेवाली शीत और उष्ण स्थितियों को सहने का विधान इसमें किया गया है । इसलिए इसका नाम 'शीतोष्णीय' रखा गया है । शीत पद से अनुकूल और उष्ण पद से प्रतिकूल का ग्रहण किया गया है । प्रस्तुत अध्ययन का आरम्भ शयन और जागरण की अवस्था के

विषय से होता है । शीत और उष्ण याने अनुकूल और प्रतिकूल परिषह सहन करते समय मुनि सदा जागृत रहकर वे समभाव से सहन करता है । इस समताबुद्धि का पालन इस अध्ययन का और पूरे आचारांग का ही प्रतिपादन है । इसी वजह से अनेक ग्रन्थों में आचारांग का पर्यायवाची नाम 'सामायिक' भी दिया है ।

४. **चतुर्थ अध्ययन :** चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्यक्त्व (सम्मत्त) है । कषायों का वमन करना ही धर्म है और सम्यक्त्व ही कषायों का वमन करने का प्रधान कारण है । इसलिए आचारांग में प्रस्तुत अध्ययन का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है । चूर्णिकार ने लिखा है – 'चतु:शाला के मध्य में रखा हुआ दीपक उस सम्पूर्ण चतु:शाला को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही आचारांग सूत्र का यह मध्यगत अध्ययन सम्पूर्ण आचार (आचारांग) को आलोकित करता है ।'

इस अध्ययन के चार उद्देशकों में क्रम से सम्यग्वाद, अन्य धर्ममतों की परीक्षा, सम्यक् तप का वर्णन और बाल-तप का निषेध, नियमन या संयमन का संक्षिप्त कथन निर्दिष्ट है । तात्पर्य की भाषा में पहले उद्देशक में सम्यग्दर्शन, दूसरे में सम्यग्ज्ञान, तीसरे में सम्यक्तप और चौथे में सम्यक्चारित्र का निरूपण है । इस अध्ययन का आरम्भ 'सव्वे पाणा न हंतव्वा' इस प्रतिपादन से होता है । इस अहिंसाभाव को ही तथ्य, वास्तविकता और सम्यग्दर्शन कहा है ।

५. **पंचम अध्ययन :** पंचम अध्ययन का नाम लोकसार (लोगसार) है । अध्ययन का आरम्भ 'आवंती' शब्द से होने के कारण इसका दूसरा नाम

‘आवंती’ भी है । इसके छह उद्देशकों में इस प्रश्न का विचार किया है कि, ‘इस असार संसार में सार क्या है ?’ सामान्यत: लोगों को स्त्रियाँ, धन तथा विविध परिग्रह सारभूत लगते हैं । लेकिन अहिंसा, विरति, अपरिग्रह, स्वाध्याय, गुप्ति तथा उन्मार्ग का वर्जन ये चीजें भ. महावीर ने ‘साररूप’ बताई हैं ।

६. **छठा अध्ययन :** छठें अध्ययन का नाम धुत (धुय) है । ‘धु’ (‘धू’) इस क्रिया का मूलगामी अर्थ है – हिलाना, झटकना, प्रकम्पित करना । साधु को चाहिए कि वह पाँच महत्त्वपूर्ण चीजें दूर करें, प्रकम्पित करें । स्वजनों के प्रति आसक्ति, आत्मा में प्रविष्ट कर्मपुद्गल, शरीर और उपकरणों के प्रति ममत्व, तीन गारव तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिषह ये सब चीजें झटकने, दूर करने तथा त्यागने योग्य हैं । ‘धुतवाद’ कर्मनिर्जरा का सिद्धान्त है । जिन-जिन हेतुओं से कर्मनिर्जरा होती है उन सबकी ‘धुत’ संज्ञा है ।

७. **सप्तम अध्ययन :** सप्तम अध्ययन का नाम महापरिज्ञा (महापरिण्णा) है। महापरिण्णा याने विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मोहजन्य दोषों को जानकर विवेक से (प्रत्याख्यान परिज्ञा से) उसका त्याग करना । प्रस्तुत अध्ययन में विभिन्न मोहजन्य स्थिति के उपस्थित होने पर वह किसी चमत्कार एवं यन्त्र-मन्त्र का प्रयोग करके मोह के प्रवाह में न बहें किन्तु उन परिषहों पर विजय प्राप्त करें ।

इस अध्ययन में मोहजन्य अनेक दोषों का उल्लेख था । अत: इससे सामान्य साधकों के जीवन में शिथिलता आने की सम्भावना थी ।

चमत्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता था । इसी दृष्टि को सामने रखकर सर्वसाधारण के लिए उसके पढने का निषेध किया गया था । इस कारण उसका पठन-पाठन कम हो गया और बाद में वह लुप्त हो गया होगा ।

८. **अष्टम अध्ययन :** अष्टम अध्ययन का नाम 'विमोक्ष' (विमोक्ख) है। विमोक्ष का मूलभूत अर्थ है - छुटकारा पाना । किन-किन चीजों से हमें छुटकारा पाना है इनका विस्तारपूर्वक वर्णन इस अध्ययन में है । अन्य तीर्थिकों के मतों का परिहार, अकल्पनीय आहार का त्याग, आशंकादि दोषों का वर्जन, उपकरण तथा शरीर के आसक्ति से छुटकारा तथा अन्तिम अवस्था में संलेखनापूर्वक अनशन ये सब विषय क्रम से इस अध्ययन में प्रतिपादित हैं ।

९. **नवम अध्ययन :** नवम अध्ययन का नाम 'उपधानश्रुत' (उवहाणसुय) है । 'उपधान' का मूलगामी अर्थ है 'तकिया' । शरीर के उत्तमांग का (मस्तक का) आधार जिस प्रकार तकिया है उसी प्रकार मानवी जीवन के सर्वश्रेष्ठ उद्दिष्ट साध्य करने का आधार 'तप' है । विविध आगम-ग्रन्थों में उपधान (उवहाण)शब्द का प्रयोग तप के साथ (तवोवहाण) अथवा तप का पर्यायवाची शब्द के रूप में पाया जाता है । स्पष्ट है कि इस अध्ययन में तपस्या का वर्णन है ।

इस अध्ययन के सूत्र दो विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। भ. महावीर द्वारा आचरित (आचीर्ण) तपस्या का वर्णन एक विभाग में है । दूसरे विभाग में मेधावी, संयमी साधु ने किस प्रकार की तपोसाधना करनी चाहिए इसका सामान्य उपदेशात्मक वर्णन है । साधु की चर्या, शय्या,

परिषह तथा रोगों की अचिकित्सा ये विषय सामान्यत: वर्णित हैं ।

'अहासुयं वदिस्सामि' इन शब्दों से अध्ययन का आरम्भ होता है । इसमें भ. महावीर की कठोर तपश्चर्या का विस्तृत और यथार्थ वर्णन अत्यन्त प्रभावी शब्दों में दिया गया है । अन्य सब अध्ययनों से भाषा शैली अलग है । वर्णन से स्पष्ट दिखाई देता है कि इस अध्ययन का प्रतिपादन अन्य आगमों की तरह 'सुधर्मा ने जम्बू को' किया है । सम्पूर्ण अध्ययन पद्यबद्ध है । भाषिक दृष्टि से यह स्पष्टत: उत्तरवर्ती रचना है ।

◆ ◆ ◆

.२.

आचारांगसूत्र के विविध आयाम

(जैन अध्यासन द्वारा सन्मति-तीर्थ के सहयोग से आयोजित द्वि-दिवसीय चर्चासत्र फरवरी २०११)

प्रस्तावना :

फिरोदिया होस्टेल में लगभग ७० विद्यार्थी-विद्यार्थिनी दो साल से आचारांग खंड १ तथा २ का अध्ययन कर रहे थे । डॉ. नलिनी जोशी ने, फरवरी में उनके लिए आचारांग के चर्चासत्र का आयोजन किया । प्राय: सभी याने ६५ विद्यार्थी उसमें शामिल थे ।

विषय का चुनाव हरेक विद्यार्थी ने अपने रुचि के अनुसार किया । 'भाषैषणा', 'ईर्यैषणा', 'शस्त्रपरिज्ञा' एवं 'विमुक्ति' ये अध्ययन काफी लोकप्रिय रहे । आचारांग की सद्य:कालीन प्रस्तुतता का जिक्र भी ३-४ निबंधों में किया गया। चार-पाँच लेखकों ने कविता में ढालकर अपने विचार व्यक्त किये। निबंध-लेखन की मर्यादा फुलस्केप थी । उनका प्रकट वाचन एवं अभिप्राय प्रदर्शन बहुत ही उद्‌बोधक रहा ।

विषयों की विविधता इतनी अनूठी थी कि उन्हें अंकित करना हमने हमारा कर्तव्य माना । प्रस्तुत लेख में आरंभ में विषय-सूचि दी है । उसके अनन्तर नमूने के तौरपर कुछ लेख दिये हैं । वाचकगण उनका आनन्द उठाएँ और हमें अपने अपने अभिप्राय अवश्य भेजें ।

* आचारांग पर आधारित लघुनिबन्धों की विषयसूचि *

१)	सविता मुनोत	:	आचारांगकालीन खाद्यसंस्कृति
२)	आशा कांकरिया	:	मला उमगलेले भाषाजात
३)	लता बागमार	:	ईर्यैषणा आणि प्रदूषण
४)	संगीता कटारिया	:	आचारांगाची मनोवैज्ञानिक दृष्टि
५)	कांता गांधी	:	ईर्यैषणा श्रावकांची
६)	सुमतिलाल भंडारी	:	भाषाजात अध्ययन : काही विचार
७)	कमला खिंवसरा	:	आचारांग एक चिंतन
८)	राजश्री शेटिया	:	आचारांगातून उपमा व दृष्टांतांचे सूचन
९)	शोभा लोढा	:	आचारांगाची व्यावहारिक उपयुक्तता
१०)	कल्पना मुथा	:	महावीरांनी निरीक्षणाला दिलेले महत्त्व
११)	सीमा सुराणा	:	ऐश्वर्यातील दारिद्र्य
१२)	संगीता मुनोत	:	आचारांगकालीन सामाजिक उत्सव
१३)	छाया ओसवाल	:	आचारांगाच्या दोन श्रुतस्कंधातील फरक
१४)	डॉ.मंजु चोपडा	:	अहिंसा परमो धर्म:
१५)	अर्जुन निर्वाण	:	भाषैषणा अध्ययन में नारी विचार
१६)	शकुंतला केमकर	:	जैन व बौद्ध आचारविचार
१७)	ज्योत्स्ना मुथा	:	आचारांग : उपोद्घात व उपसंहार
१८)	पारमिता खणसे	:	आत्मजिज्ञासेपासून आत्मदर्शनापर्यंत
१९)	संगीता नहाटा	:	भाषासमिति : आचारांग आणि धम्मपद
२०)	साधना देसडला	:	आचारांगात वनस्पती आणि पर्यावरण

२१)	चंदा समदडिया	:	पढमं नाणं तओ दया
२२)	शकुंतला चोरडिया	:	णत्थि कालस्स णागमो
२३)	मृणालिनी छाजेड	:	आचारांग – बोध
२४)	कमल बोथरा	:	साधूंची रोगचिकित्सा
२५)	ललिता ओसवाल	:	काव्यातून भाषाजात
२६)	निर्मला कांकरिया	:	जीवनात यतनेचे महत्त्व
२७)	सुविता भन्साळी	:	'विमुक्ति' अध्ययन
२८)	प्रकाश बागमार	:	'भाषैषणा' अध्ययनाचे रसग्रहण
२९)	चंद्रकला बागमार	:	लोकसारातील सुभाषिते
३०)	चंचला कोठारी	:	'विमुक्ति' अध्ययनाचा सारांश
३१)	पुष्पा शिंगवी	:	आचारांग : जीओ और जीने दो
३२)	रंजना शिंगवी	:	साधूने गृहस्थांच्या वसतिस्थानात का राहू नये?
३३)	सुनंदा भटेवरा	:	आचारांग एक विश्लेषण
३४)	कमला लुंकड	:	धर्मकथा
३५)	ब्रिजबाला श्रीश्रीमाळ	:	दाता की शुद्धि
३६)	मनिषा भटेवरा	:	आहार भोगने की विधि
३७)	उषा ताथेड	:	हमें क्या बनना है ?
३८)	विमल सू. भटेवरा	:	मुक्ति के साधन
३९)	जयबाला शहा	:	उपधानश्रुत
४०)	हंसा नहार	:	आचारांग : मोक्ष का मेडिसिन
४१)	निर्मला बोकरिया	:	'लोकविजय' अध्ययन की सार्थकता

४२)	पुनीता चोरडिया	:	शस्त्रपरिज्ञा
४३)	विद्या खिंवसरा	:	एकेंद्रिय जीव
४४)	आरती नवलाखा	:	ईर्यैषणा
४५)	प्रेमा धुमावत	:	लोकविजय
४६)	पुष्पा बोरा	:	आरंभ-समारंभ
४७)	बालचंद मालु	:	शस्त्रपरिज्ञा
४८)	विमल वि. भटेवरा	:	समितींचे पालन
४९)	लीना संचेती	:	साधु की रोगचिकित्सा
५०)	लता डागलिया	:	संखडी
५१)	स्मिता बागमार	:	आचारांगातील निवडक विचार
५२)	सरला भंडारी	:	वनस्पतिकायिक जीव व पर्यावरण
५३)	संतोष भन्साळी	:	मला उमजलेले आचारांग
५४)	प्रकाश लोढा	:	अप्कायिक जीव
५५)	मदनबाई लोढा	:	मलमूत्रविसर्जन
५६)	अनीता मुथा	:	विमुक्ति
५७)	अनीता धोका	:	आचारांग के पर्यायवाची नाम
५८)	शैला लोढा	:	आचारांगाची सद्य:कालीन प्रस्तुतता
५९)	मनीषा कुलकर्णी	:	अहिंसा : गीतेतील आणि आचारांगातील
६०)	कुमुदिनी भंडारी	:	आचारांग से हम क्या सीखे ?
६१)	रेखा छाजेड	:	महावीरांची साधना

६२) लीलावती पोकरणा : भाषैषणा

६३) प्रतिभा ललवाणी : ईर्यैषणा

६४) संगीता बलदोटा : आचार : जैन, बौद्ध एवं वैदिक

६५) मधुबाला चोरडिया : आचारांग का श्रमणाचार और वर्तमान परिस्थिति

◆◆◆

३.

आचारांग : विद्यार्थियों के विचार-उन्मेष

(१) महावीरांच्या दृष्टीने 'वीर' कोण ?

(दै. प्रभातच्या महावीर विशेषांकात प्रसिध्द झालेला लेख, २०११)

– डॉ. नलिनी जोशी

जैन धर्माचे २४ वे तीर्थंकर 'भ. महावीर' यांची ऐतिहासिकता निर्विवादपणे दृढमूल झाली आहे. इसवी सन पूर्व ५९९ मध्ये 'मगध' (अथवा मतांतराने 'विदेह') जनपदातील 'क्षत्रियकुंड' गणराज्यात 'ज्ञातृ' कुळातील राजा 'सिद्धार्थ' व 'त्रिशलादेवी' यांच्या पोटी 'चैत्र शुद्ध त्रयोदशीच्या' मध्यरात्री भ. महावीरांचा जन्म झाला. या तेजस्वी बालकाचे नाव 'वर्धमान' असे ठेवले. त्यांना 'महावीर' हे विशेषण का लावले गेले याविषयी त्यांच्या बालपणातील शौर्य व धाडसाच्या कथा परंपरेने नोंदविलेल्या आहेत. वर्धमान बालपणापासूनच ज्ञान-प्रतिभासंपन्न, एकांतप्रिय व चिंतनशील होते. वयाच्या २८ व्या वर्षी, मातापित्यांच्या मृत्यूनंतर आपले जेष्ठ बंधू नंदिवर्धन यांच्या अनुमतीने त्यांनी साधुजीवनाची तयारी सुरू केली. त्यानंतर त्यांनी एक वर्षभर दीन-दुःखी-गरजू लोकांना विपुल दाने दिली.

वयाच्या तिसाव्या वर्षी 'मार्गशीर्ष कृष्ण दशमीला' त्यांनी 'दीक्षा' घेतली. त्यानंतर साडे बारा वर्षे त्यांनी कठोर तपस्या केली. 'वैशाख शुद्ध दशमीला' त्यांना 'केवलज्ञान' प्राप्त झाले. बोधीची चरमावस्था प्राप्त केल्यावर त्यांनी विहार करत धर्मोपदेश देण्यास आरंभ केला. त्यांच्या वयाच्या ७२ व्या वर्षापर्यंत अर्थात् 'अश्विन कृष्ण अमावस्येच्या' मध्यरात्रीपर्यंत त्यांनी प्राणिमात्रांच्या कल्याणासाठी निरंतर उपदेश केला. जैन लोक दिवाळीच्या रात्री दीप प्रज्ज्वलन करून त्यांचा निर्वाणोत्सव साजरा करतात.

भ. महावीरांनी ‘अर्धमागधी’ या लोकभाषेत केलेले उपदेश त्यांच्या शिष्यांनी संकलित केले. ते सुमारे १००० वर्षे मौखिक परंपरेने जतन केले गेले. त्यानंतर म्हणजे इसवी सनाच्या पाचव्या शतकात ते गुजरातमधील ‘वलभी’ येथे झालेल्या श्वेतांबर साधु परिषदेत ग्रंथारूढ करण्यात आले. आज आपल्यासमोर असलेले अकरा ‘अंग’ ग्रंथ ‘महावीरवाणी’ या नावाने ओळखले जातात.

पहिला अंगग्रंथ ‘आचारांग’ नावाने सुप्रसिद्ध आहे. प्राकृत भाषातज्ज्ञांनी या ग्रंथाचा पहिला विभाग ‘अर्धमागधी’ भाषेचा सर्वात प्राचीन नमुना म्हणून स्वीकारार्ह मानला आहे. या ग्रंथाचा अभ्यास करीत असताना त्यातील ‘वीर’ आणि ‘महावीर’ या शब्दांकडे माझे लक्ष वेधले गेले. भ. महावीर स्वत: ‘वीर’ शब्द कोणकोणत्या संदर्भात वापरतात याची उत्सुकता लागून राहिली. त्यांचे तद्विषयक विचार या लेखात मांडले आहेत.

आचारांगाची भाषाशैली उपनिषदांशी अतिशय मिळतीजुळती आहे. महावीरांच्या उपदेशाचा काळ हा वैदिक परंपरेतील उपनिषत्काळाशी निकटता राखणारा असल्याने, ही गोष्ट नैसर्गिकच आहे.

‘वीर’ हा शब्द वाच्यार्थाने रणांगणावर पराक्रम गाजविणाऱ्या योद्ध्याचा वाचक आहे. आचारांगात मात्र तो मेधावी, विवेकी मुनीसाठी उपयोजित करण्यात आला आहे. ‘शस्त्रपरिज्ञा’ आणि ‘लोकविजय’ या शीर्षकांच्या अध्ययनांमध्ये त्यांनी या शब्दाचा जास्तीत जास्त उपयोग केला आहे. अर्थातच हा ‘आध्यात्मिक विजय’ आहे, रणांगणावरील विजय नव्हे. ‘अत्युच्च आत्मकल्याण’ हे ध्येय, उद्दिष्ट आहे. ‘अहिंसेचे पालन’ हा त्याचा मार्ग आहे. ते म्हणतात, ‘पणया वीरा महावीहिं’-अर्थात् वीरपुरुष या महापथाला समर्पित आहेत (जसा योद्धा ध्येयपूर्तीसाठी समर्पित असतो तसे). असे वीर ‘पराक्रमी’ आहेत. ते साधनेतील अडथळे, विघ्ने यावर मात करतात.

बाह्य, दृष्य शत्रूंवर हल्ला करून त्यांना नेस्तनाबूद करणारा हा पराक्रम नव्हे. हा तर 'संयमाचा पराक्रम' आहे. आजूबाजूच्या त्रस (हालचाल करू शकणाऱ्या) जीवांना तर हा वीर जपतोच पण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पती या एकेंद्रिय जीवसृष्टीविषयीही हा जागृत, अप्रमत्त असतो. पर्यावरणाच्या सर्व घटकांचे हा प्राणपणाने रक्षण करतो.

भोजन करताना, वस्त्रे परिधान करताना, मार्गक्रमण करताना तसेच मल-मूत्र विसर्जन करताना हा आजूबाजूच्या कोणत्याही स्थूल-सूक्ष्म जीवाला इजा पोहोचणार नाही याची दक्षता घेतो. हीच 'शस्त्रपरिज्ञा' अर्थात् 'विवेक' आहे.

सामान्य वीर हे शत्रूंना बंदी बनवितात, त्यात भूषण मानतात. हे आध्यात्मिक 'वीर' आपल्या उपदेशाने अनेक प्राणिमात्रांना बंधनांपासून मुक्त करतात. भ. महावीर म्हणतात, 'णारतिं सहते वीरे, वीरे णो सहते रतिं' - अर्थात् हे वीरपुरुष संयम साधनेतील स्वत:ची 'अरति' आणि असंयमातील 'रति' दोन्हीही सहन करत नाहीत. माध्यस्थवृत्ति धारण करतात.

अत्यंत मोजका, नीरस आणि रुक्ष आहार ते स्वीकारतात. स्वत: अन्न शिजवीत नाहीत. इतरांनी त्यांच्यासाठी बनवलेल्या आहारातील अगदी मोजकी भिक्षा जीवननिर्वाहापुरती ग्रहण करतात. वीराचे लक्षण सांगताना भ. महावीर म्हणतात, 'जागर-वेरोवरए वीरे' अर्थात् हा वीर सदैव अहिंसेविषयी जागृत आणि वैरभावापासून दूर असतो.

मेधावी, निश्चयी व विवेकी साधक 'आत्मगुप्त' असतो म्हणजेच कुशल सेनापतीप्रमाणे स्वत:ला शाबूत ठेऊन ध्येय गाठण्याचा प्रयत्न करतो. स्वत:च्या मनात डोकावणाऱ्या क्रोध, अहंकार, कपट, लोभ या भावनांवर मात करतो. हा वीर 'क्षेत्रज्ञ' असतो म्हणजेच रणांगणाचा जाणकार आणि रणनीतीत कुशल

असतो. भगवद्गीतेतही ‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञ’ अध्यायात शरीराला ‘क्षेत्र’ आणि आत्म्याला ‘क्षेत्रज्ञ’ म्हटले आहे.

आचारांगात ‘वीर्य’ आणि ‘पराक्रम’ हे शब्द वारंवार उपयोजिले आहेत. हा पराक्रम अर्थातच संयमात आणि आत्मविजयात दडलेला आहे. ‘महावीरा विप्परक्कमंति’ अशी शब्दयोजनाही आढळून येते.

साधनेचा मार्ग कितीही खडतर असला तरी ते वीर मनाची प्रसन्नता घालवीत नाहीत. खिन्न, विमनस्क होत नाहीत. अत्यंत महत्त्वाची गोष्ट म्हणजे आध्यात्मिक साधकाची वाटचाल ‘एकट्याने करावयाची मार्गक्रमणा’ आहे. येथील अनुभूती प्रत्येकाची स्वतंत्र स्वतंत्र आहे. हा सामुदायिक मार्ग नाही. भ. महावीर म्हणतात ‘दुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं’ - अर्थात् येथे कोणी सोबती नाही आणि खरा वीर मार्गावरून पुन्हा फिरत नाही.

आचारांग ग्रंथातील शेवटचे अध्ययन ‘उपधानश्रुत’ म्हणून प्रसिद्ध आहे. भ. महावीरांच्या उपदेशांचा संग्रह करणाऱ्या प्रभावी आचार्यांनी ते लिहिले असावे. त्यांनी सांगितलेली ‘वीराची लक्षणे’ त्यांच्या चरित्रातून कशी दिसतात ते सांगून अखेरीस म्हटले आहे -

सूरो संगामसीसे वा, संवुडे तत्थ से महावीरे ।
पडिसेवमाणे फरुसाइं, अचले भगवं रीइत्था ।।

प्रतिक्षणी अहिंसेचे पालन करण्यात दक्ष असलेले हे तीर्थंकर गेली २६०० वर्षे ‘महावीर’ म्हणून प्रसिद्ध आहेत. त्यांनी सांगितलेली आध्यात्मिक पराक्रमाची लक्षणे त्यांनी स्वत: तंतोतंत पाळली म्हणून तर त्यांच्याच शब्दात सांगायचे तर, ‘एस वीरे पसंसिए’ अर्थात् या वीराची एवढी प्रशंसा झाली !!!

◆ ◆ ◆

(२) ऐश्वर्यातील दारिद्र्य

– सीमा सुराणा

इष्ट–अनिष्ट गुणांनी भरलेला हा संसार सर्व जीवांचे प्रवासस्थान आहे. मानव मात्र आपल्या बुद्धिचातुर्याने न्याय, नीती, सत्य, शांती या कल्याणकारी चतु:सूत्रीची कास सोडून, धर्माच्या मर्माला विसरून, अर्थ–काम–भोग या दलदलीत रुतला आहे. स्वसुखासाठी मानवतेला काळिमा फासू लागला आहे. लौकिकतेच्या हव्यासापोटी ममत्व व प्रमादाला कवटाळून, पंचमहाव्रतांची मर्यादा ओलांडून, पंचमहाभूतांचा यथेच्छ वापर मर्जीप्रमाणे करू लागला आहे. गैरमार्गाने, काळावेळाचे भान न ठेवता सर्व चित्त अर्थार्जनातच लावून, रात्रंदिवस मायेच्या जाळ्यात अडकला आहे. अशा ऐश्वर्याच्या दारिद्र्यात आत्मिक मन:शांती, समाधान हरवून भयग्रस्त झाला आहे.

माया–लोभाच्या आसक्तीने वैर वाढले. त्यामुळे वैरी निर्माण झाले. भयामुळे संरक्षणाची गरज भासू लागली. म्हणून प्रथम तो स्वत:ला बळकट करतो. नातेवाईक, मित्रपरिवार जोडतो. कामनापूर्तीसाठी होमहवन करून देवबल वाढवतो. सत्तेचा लोभी होतो व भ्रष्टाचारीयांशी संबंध जोडण्यात भूषण मानू लागतो. गोर–गरिबांना दान देऊन ऋणी बनवितो. प्रतिष्ठेसाठी, देखाव्यासाठी साधुसंतांचा आश्रय घेऊन पवित्र व धार्मिक असल्याचा आव आणतो. परंतु वरवर कितीही वाघाचे कातडे पांघरले तरी आतून मात्र शेळीप्रमाणे धास्तावलेलाच असतो. कारण केलेल्या कर्मांची फळे आपल्यालाच भोगावी लागणार, हे सत्य तो जाणून असतो. तरीही चुकीच्या क्रमाने लिहिलेली गरजांची यादी वाढतच जाते. चुकांगणित पश्चात्तापाचे रोप उगवून हळूहळू सगळे आयुष्य मात्र पश्चात्तापाची रोपवाटिका तयार होते. या

वाटिकेत त्याला स्वास्थ्य लाभत नाही व आंतरिक भोग त्याला उपभोगूही देत नाहीत.

निसर्गत: गुणी असणाऱ्या मानवाने अवगुणांमुळे स्वत:चा ऱ्हास करून घेतला. असे हे चित्रण समाजात घडत होते, घडत आहे व पुढे घडत राहणार, हे भ. महावीरांनी आपल्या ज्ञानाने निरीक्षण करून सांगितले आहे.

आजमितीस समाजातला मानव एकटा पडला आहे, निराश, उद्विग्न झाला आहे. मानसोपचारांची गरज भासू लागली आहे. लोभाच्या ऐश्वर्याचे दारिद्र्य त्याला शांती लाभू देत नाही. परंतु या तापाला सुद्धा उतारा आहे. वेळ जाण्यापूर्वीच जागे होण्याचा, विवेकी बनण्याचा !

सर्व समस्यांचे उत्तर फक्त पैसा नाही. ही विषारी शेती नांगरण्याचे सोडून, स्वत:पलिकडे असणाऱ्या समाधानाच्या इयत्तेत जावून बसावे. 'संसार असार आहे', हा नकारार्थी दृष्टिकोण मनातून हद्दपार होईल. सुंदर अशा या भवातूनच महापुरुषांनी आपले आत्महित साधले. तसाच पुरुषार्थ आपणही करू या व आपल्या कृतीने व प्रवृत्तीने मायावी बनवलेल्या या संसारात सगळ्यांना एक 'स्पेस' देऊन – 'जगा आणि जगू द्या' या उक्तीप्रमाणे जीवनाचा खरा अर्थ शोधू या.

◆ ◆ ◆

(३) आचारांग : मनोवैज्ञानिक दृष्टी

– संगीता कटारिया

आचारांगसूत्राला द्वादश अंगांमध्ये महत्त्वपूर्ण स्थान आहे. म्हणूनच सर्व अंगांचे सार म्हटले आहे. आपला जसा आचार तसाच विचार असतो. शुद्ध आचाराने विचारांची शुद्धी होते व दोन्हीमुळेच कर्माचा क्षय होऊन मोक्षप्राप्ती होते. अध्यात्मसाधनेचा मुख्य पाया आचार आहे. भ. महावीरांनी जगाला एक नवीन चिंतनाची दिशा दिली आहे की ज्यानुसार वागून मनुष्य आपल्या स्वत:मध्ये परिवर्तनाच्या प्रक्रियेचा अनुभव करतो. भगवंतांनी एकीकडे हिंसेपासून मुक्त अशा विश्वाची कल्पना केली आणि दुसरीकडे मनुष्याच्या मनात मनुष्यत्व जागवण्याचा समर्थ प्रयत्न केला. सगळ्या जीवसृष्टीबद्दलची संवेदनशीलता, विचारचेतना जागृत करणे हे आचारांगाचे खरे प्रयोजन आहे.

भगवंतांनी जोपर्यंत स्वत:ला आध्यात्मिक उन्नतीचा साक्षात्कार झाला नाही तोपर्यंत कोणताच उपदेश केला नाही. आत्म्यापासून परमात्मा बनवण्याचा मार्ग तर दाखविला परंतु त्याचबरोबर मनुष्याला वर्तमान जीवन जगण्याची कला शिकवली. सतत ज्ञाता, द्रष्टा बनून पहा, जाणा व चिंतन करा हे सांगितले. आपल्या साधनाकाळात त्यांनी आजूबाजूच्या विश्वाचे अत्यंत बारकाईने निरीक्षण, चिंतन केले व त्यानंतर स्वअनुभवाच्या जोरावर उपदेश केला. भगवंतांचे हृदय प्रेम, करुणा, अहिंसेने भरलेले होते. म्हणून जगाला सांगितले की ह्या अदृश्य अशा षट्कायिक जीवांशी वागताना सतत जागृती, विवेक ठेवावा. अहिंसेचा इतका सूक्ष्म विचार की जे आजच्या पर्यावरणविषयक समस्यांना लागू पडतात. पर्यावरणाशी वागताना जणू एक दुर्बिण आपल्यासमोर ठेवली आहे.

*　भगवंत हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होते. त्यांनी मानवी मनाचा अत्यंत बारकाईने शोध घेतला आहे. आचारांगातल्या अनेक प्रसंगांवरून आपल्या लक्षात येते की त्यांची मौलिक शिकवण, सिद्धांत हे सर्वकाळात सर्वसामान्य लोकांनाही लागू पडतात. हा जणू काही मानवी मनाचा आरसा आहे. आचार आणि सिद्धांतांचे, नियमांचे प्रतिपादन हे काही अर्थी मनोवैज्ञानिक दृष्टीचा परिचय देतात.

आचारांगाची मनोवैज्ञानिक दृष्टी पुढील मुद्यांवरून दिसून येते.

१) व्यक्तीचे मूलभूत आणि सारभूत तत्त्व त्याचे आपले अस्तित्व आहे. आचारांगात आत्मज्ञानाच्या लक्षणावर जोर दिला आहे.

२) मनुष्य हिंसा कोणकोणत्या कारणांसाठी करतो ह्याचे अत्यंत सुंदर विश्लेषण केले. जीवन निर्वाह, वंदना, गुणानुवाद, मानसन्मान, जन्ममरणापासून मुक्ती, दु:ख निवारणासाठी व सुख प्राप्तीसाठी आपणही चिंतन केले तर लक्षात येते की ह्याखेरीज दुसरी कोणतीही कारणे हिंसेमागे नाहीत.

३) बंध व मुक्तीचे तत्त्व बाहेर नाही तर आतच आहे. कामभोगाच्या प्रति आसक्तीनेच बंध होतो आणि तीच दु:खाला कारण आहे. बंध व मुक्ती हा साधकाच्या अंतरंग भावनांचा खेळ आहे.

४) जो अप्रमत्त आहे तो कामनांनी आणि पापकर्मांनी उपरत आहे. प्रमत्तालाच विषयविकारामध्ये आसक्ती राहिल्यामुळे भीती असते. अप्रमत्ताला नाही.

५) 'आयंकदंसी न करेइ पावं', जो आपली पीडा आणि वेदनेला बघतो, जाणतो तो पापकर्मामध्ये फसत नाही. जेव्हा दु:खाचा स्वत: आत्मनिष्ठरूपाने अनुभव करतो तेव्हा तो हिंसेपासून परावृत्त होतो.

६) अहिंसेला अरिहंत प्रवचनाचे सार आणि शुद्ध शाश्वत धर्म सांगितले आहे. कारण सगळ्या प्राण्यांना जगण्याची इच्छा, अस्तित्व आणि सुखाची इच्छा हा स्वभाव आहे. सगळ्यांना सुख प्रिय व दु:ख अप्रिय असते.

७) इंद्रिय संयमावर जोर दिला आहे परंतु हेही सांगितले आहे की इंद्रियांचे विषय समोर असताना ते नाकारणे शक्य नाही. तर त्या ठिकाणी इंद्रियांच्या व्यापाराचा निरोध करण्यास सांगितला. विषय सेवनाच्या मुळाशी असलेल्या राग, द्वेषरूपी वृत्तीचा त्याग करण्यास सांगितला आहे.

सारांश :

भ. महावीरांनी मानवी मनाचा सूक्ष्म वेध घेतलेला दिसतो. अनेक बारीक गोष्टींचे चिंतन दिसते. मनुष्य एकेका कषायात कसा अडकत जातो ते वर्णिले आहे. पैसा, संपत्ती वाढली की त्याच्या आसक्तीने अनेक गोष्टी आत्मसात करण्याची धडपड करतो. साधूंनाही आपला आहार, शय्या, वस्त्र, विहारकाळात अनेकवेळा सावधानतेचा इशारा दिला आहे. येणाऱ्या प्रसंगाचे होणारे परिणाम लक्षात आणून दिले आहेत. धर्माच्या विरुद्ध वागणाऱ्याकडे लक्ष देऊ नये. उपेक्षा करा. मोहाची जागृती झाली तर अनेक उपाय सांगितले. साधूने श्रावकांच्या संपर्कात का राहू नये याचा इशारा, आध्यात्मिक साधनेत बाधा इत्यादींची जाणीव करून दिली आहे.

◆ ◆ ◆

(४) मलमूत्रविसर्जनाची खबरदारी

– मदनबाई लोढा

जैन धर्माने अतिप्राचीन काळी प्रदूषण-रक्षणासाठी केलेला विचार आचारांगाच्या दुसऱ्या श्रुतस्कंधात आलेला आहे.

मलमूत्रविसर्जन चलजीवाचा नैसर्गिक विधी आहे. तरीसुद्धा या कारणाने अधिकतर स्थावर जीवांची हिंसा होते. नकळत त्यांना पीडा, वेदना होतात. कर्मबंधास कारण होते. यासाठी साधूंनी आवश्यक नियमांचे पालन करावयाचे आहे. ते सर्व मानवजातीस उपयोगी व आवश्यकही आहे.

१) विसर्जनाचे स्थान निर्जंतुक असावे.

२) ते कोणी मुद्दाम बनविलेले अथवा नूतनीकरण केलेले नसावे.

३) कोणी खरेदी केलेले नसावे. पण पूर्वी वापरलेले असावे.

४) मोठ्या भोजनसमारंभासाठी मोठ्या चुली, भट्ट्यांचा वापर झालेले नसावे.

५) धान्य, भाजी, फळे, चारा ठेवलेले स्थान नंतर रिकामे केलेले नसावे.

६) गुरांचे मोठे मोठे खुराडे, पशूंचे चरण्याचे स्थान नसावे.

७) मंदिर, देवालये, स्मारक, समाधिस्थान, स्मशान, वधस्थान, कबरस्थान नसावे.

८) चौक, त्रिक, चबुतरा, मोठ्या वर्दळीचे स्थान, बागबगीचे, फिरण्याचे, मनोरंजनाचे स्थान नसावे.

९) कोळशाच्या, खनिज पदार्थांच्या खाणी, अमराया, केतकी, बांबूचे वन, शेती पिकलेली नसावी.

१०) नदी, तलाव, किनारा, पाणपोई, दलदलीचे ठिकाण, तऱ्हेतऱ्हेची पूजास्थाने नसावीत.

११) अत्यंत शांत आडोशाची प्राशुक भूमी नीट अवलोकन करून विसर्जन करावे.

मलमूत्राबरोबर, थुंकी, ओकारी, नाक शिंकरणे, पिंक टाकणे, चूळ भरणे हे विसर्जित होणारे पदार्थ जिथे-तिथे घाण, दुर्गंधी, अस्वच्छतेस कारण व आरोग्यास घातक आहेत. यातून सम्मूर्च्छिम जीवांची उत्पत्ती शीघ्रतेने होते. त्यांच्या हिंसेस आपण कारण होतो. घराघरातून बाहेर टाकल्या जाणाऱ्या कचऱ्यानेही दुर्गंध, सडण्याच्या क्रिया होऊन प्रदूषण होते. हॉटेल, हॉस्पिटलमधून निघणारा कचरा मोठ्या प्रमाणात बाहेर पडत आहे. डिस्पोजेबल् प्लॅस्टिक डिश, ग्लास, वापरलेल्या कॅरीबॅग, पॅकिंगसाठी वापरलेले थर्माकोल इ. मानवनिर्मित कचरा पुन्हा मानवाच्याच हातांना उचलणे अवघड झालेले आहे. वाहनांचे वायूत होणारे प्रदूषण तर वायुमंडलच दूषित करीत आहे. हे सर्व भूमि, वायु, अग्नि, जल यांच्याबरोबरच सर्वच जीवांना पीडादायक होतात. नकळत कर्मबंध होतो व जन्ममरणरूपी चार गतीत अखंड भ्रमण होत रहाते. सुखापेक्षा दु:खेच अधिक सहन करावी लागतात. यावर उपाय म्हणून जिनेन्द्रांनी वरील नियम ढोबळरूपाने सांगितलेले आहेत.

मनास कडक शिस्त लावल्याने, परिग्रहांचा संकोच केल्याने व मर्यादेचे महत्त्व जाणल्याने काहीसे स्वरूप बदलेल असे वाटते. ''आत्मवत् सर्वभूतेषु'' या तीन शब्दात सर्व काही आले. शंका अशी येते की निर्जंतुक स्थान कसे शोधायचे ? जीवजंतू तर सर्व लोक भरून आहेत.

तात्पर्य :

शिस्त बोलण्यात, चालण्यात, उठण्या-बसण्यात, खाण्या-पिण्यात, झोपण्यात, वस्तू ठेवण्या-घेण्यात, स्वत:च्या गरजेतही असली पाहिजे. ज्यामुळे मन, वचन, काय व भावही सावध असले पाहिजेत. म्हणजे जीवहिंसा अत्यल्प होईल हा जिनेंद्र-उपदेशाचा हेतू आहे.

◆ ◆ ◆

(५) ईर्यैषणा : श्रावकांची

– कांता गांधी

श्रावकांच्या बाबतीत म्हणायचे झाले तर त्यांचे जीवन अत्यंत धावपळीचे. घड्याळ्याच्या काट्यांवर दिनक्रम. वेगवान् जीवनशैलीमुळे पायी चालणे, सायकलिंग इ. ची जागा पेट्रोल, डिझेलच्या वाहनांनी घेतली. त्यामुळे अर्थातच प्रदूषण व पर्यायाने पर्यावरणाचा ऱ्हास. परिणामत: जीवघेण्या आजारांना आमंत्रण. ओझोनच्या थराला छिद्र पडण्याची भीती. बहुतांशी लोकांनी जर शक्य तेथे ईर्यैषणेचा अर्थात् पायी चालण्याचा वसा घेतला तर कितीतरी फायदे होतील.

* जवळच्या जागी पायी जाणे. अनवाणी गेले तर तुलनेने जीवहिंसा कमी. पायांना ॲक्युप्रेशर क्रिया मिळून आरोग्य उत्तम राहण्यास मदत.
* चालता-चालता प्रभूचे नामस्मरण, जप इ. केल्यास स्वार्थ-परमार्थ दोन्ही साधेल. वारकरी संप्रदाय याचे उत्तम उदाहरण.
* आजही पाँडेचरी, माथेरान, आय्.आय्.टीचा कॅम्पस इ. मध्ये वाहने जात नाहीत, ही अत्यंत प्रशंसनीय बाब आहे. वास्तुशास्त्रज्ञ म्हणतात की, प्रदूषण कमी झाल्यास ताजमहालसारख्या पुरातन वास्तूंचे सौंदर्य अबाधित राहण्यास मदत होईल.
* सामाजिक बांधिलकी म्हणून ओळखीच्या, विश्वासातल्या लोकांना लिफ्ट द्यावी. यादी करून ग्रुपने खरेदीला जावे. आपल्या कामांबरोबरच वयोवृद्ध, विकलांग, अंध इ. लोकांचीही कामे करावीत. त्याने प्रेमही वाढेल.
* बस, रेल्वे, एस्.टी. इ.ने प्रवास केल्यास इंधन बचत होईल. अनायासेच राष्ट्रविकासाला हातभार लागेल.

वैशिष्ट्यपूर्ण चाली

* पाय घासून, धप्‌धप्, वेडेवाकडे चालण्याने जीवहिंसा तर होतेच पण आपली इमेजही खराब होते. पर्सनॅलिटीमधील तो एक दोष गणला जातो.
* गांधीजींचा 'दांडीमार्च' आणि इंदिरा गांधींचे इम्प्रेसिव्ह चालणे मनाला भावते.
* राजकपूर, चार्लीचॅप्लीन, भगवान् इ. सिनेनटांनी आपल्या वैशिष्ट्यपूर्ण चालीने लोकांची मने जिंकली. दुःखी लोकांना हसविले.
* संरक्षक दलातील जवान परेडमध्ये संचलन करताना रूबाबदार वाटतात.
* डोक्यावर घागरी घेऊन पाण्यासाठी दाहीदिशा फिरणाऱ्या स्त्रिया मोहक चालीबरोबरच, दाहक वास्तवावर प्रकाश टाकतात.
* सत्त्वपरीक्षा म्हणून निखाऱ्यांवरून चालणाऱ्या व्यक्ती आपल्या देशात कमी नाहीत.
* पोटासाठी ध्यानयोगाचा उपयोग लावून दोरीवरून डौलात चालणारी डोंबारीण अनेक गोष्टी सांगून जाते. 'बोले तैसा चाले त्याची वंदावी पाउले' - हे सर्वश्रुतच आहे.

◆ ◆ ◆

(६) भाषैषणा अध्ययन में नारीविचार

– अर्जुन निर्वाण

बीसवी सदीं के प्रथम और दूसरे दशक में अमरीका जैसे प्रागतिक राष्ट्र में स्त्रियाँ रास्ते पर उतर आयी । उन्होंने बडा आंदोलन छेडा, इसलिए कि उन्हें भी ''मतदान का अधिकार'' मिलें । जो बडी मुश्किलों के बाद उन्हें मिला ।

इक्कीसवी सदी की शुरूआत में भारतीय संसद में महिलाओं को ३३ फीसदी आरक्षण मिलने का प्रस्ताव रखा गया । जो अभी तक खटाई में पडा है। उसके लिए संसदों की आम सहमति नहीं बन पायी ।

यह दो घटनाएँ केवल सौ वर्ष के अंदर घटित हुई । इनसे आज के समाज में, 'नारी का क्या स्थान है', यह दिखाई देता है । ऐसी स्थिति में २५०० वर्ष पहले भ. महावीर की विचारधारा के अनुसार नारी का उस समाज में जैनों के अनुसार क्या स्थान था ? यह देखना अत्यंत रोचक है ।

साधु को अपनी जरूरतों के लिए श्रावक-श्राविकाओं से सम्पर्क करना पडता है । विशेषकर भोजन की, वस्त्र, पात्र की याचना के लिए गृहिणी से बोलना पडता है । तब वे उन्हें कैसे संबोधित करते हैं, इसका वर्णन आता है। यह संबोधन निम्न है – हे आयुष्यमती, हे भगिनी, हे भाग्यवती, हे श्राविके, हे उपासिके, हे धार्मिके, हे धर्मप्रिये । इन सारे संबोधनों से जैन साधु नारी को कितना सम्मान देते थे, यह दिखता है । उनका महिलाओं के प्रति आदर व्यक्त होता है।

वह कैसी भागोंवाली है, यह कहने से उसकी वजह से गृह का सम्मान है, यह दिखलाया है । 'धार्मिक', 'धर्मप्रिय' और 'श्राविका' इन वचनों से उसकी धर्मप्रवणता दृगोचर होती है । 'भगिनी' कहने से उसके प्रति आत्मीयता जतायी है । 'आयुष्मती' बोलकर उसके दीर्घायु की कामना भी की गयी है ।

इन सबसे यही प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में नारी का स्थान श्रेष्ठ रहा है । और होना भी चाहिए क्यों कि भ. महावीर समता के पुरस्कर्ता थे । उनके विचार से साधु और साध्वी दोनों मोक्ष के अधिकारी है । (यहाँ यह ध्यान में रखना है कि तब तक श्वेताम्बर-दिगम्बर ऐसे भेद नहीं थे ।)

उस समय के जैन समाज में महिलाएँ धर्मसभा, प्रवचन, समवशरण में भी जाने के संकेत मिलते हैं । वह चर्चा-संगोष्ठी में भी भाग लेती रही थी । यह उस समाज की उदारता का लक्षण था ।

परंतु वैदिक परंपरा में सभाओं में आदि, नारी जाने के उल्लेख नहीं मिलते। हिंदुओं में स्त्री-शिक्षण को मान्यता नहीं थी । उसके लिए विवाह का सबसे बडा महत्त्व पतिपरमेश्वर और पातिव्रत्य पालन ही उसका धर्म । ऐसी परिस्थिति में जैनों ने नारी को जो स्वतंत्रता दी वह सबसे बडी बात है ।

लेख के शुरूआत में जिन घटनाओं का उल्लेख हैं, उनसे आज भी नारी के विषय में समाज के क्या विचार है, यह तो स्पष्ट होता ही है, वही पर भ. महावीर और उनके पूर्व तीर्थंकरों के विचार में नारी का स्थान देखकर, जैन समाज के इस क्रांतिकारी विचारों को प्रणाम करना चाहिए ।

◆◆◆

(७) आचारांगकालीन खाद्यसंस्कृति

– सविता मुनोत

आचारांगसूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध में 'साधुआचार' के बारे में बताया गया है। 'पिण्डैषणा' अध्ययनद्वारा, 'साधु को किस प्रकार का आहार लेना चाहिए ?' यह कहा गया है । इसका वर्णन करते समय अनेक खाद्यपदार्थों के नाम आये हैं । उन्हें पढकर हमें, '२६०० साल पहले की 'खाद्यसंस्कृति' कैसी थी ?' इसका पता चलता है । साथ-साथ सामाजिक परिस्थिति भी दृष्टिगोचर होती है । आज हम रेसिपी बुक, दूरदर्शन आदि के माध्यम से, मायक्रोवेव्ह, फूड-प्रोसेसर आदि की सहायता से देश-विदेश के पदार्थ आसानी से बना सकते हैं । आचारांगसूत्र जिस काल में लिखा गया था, उस समय लोगों का जनसंपर्क नहीं था । फिर भी वे कितने पदार्थ बनाते थे, इनसे उनके खवैयेगिरि की कल्पना आती है ।

अब धोवन-पानी को ही देखो । १७-१८ प्रकार के धोवन हैं । उनमें आम, कपित्थ, बिजौरा, दाडिम, बेर आदि के धोवन को हम ज्यूस या शरबत भी कह सकते हैं । इनकी रेसिपी भी बतायी है ।

विविध प्रकार के फल, जिनके आज हम नाम भी नहीं जानते – जैसे अंबाड, ताड, झिज्झिरी, सुरभि, सल्लकी आदि हैं । पेडों के कोमल पत्ते भी लोग खाने में इस्तेमाल करते थे – जैसे पीपल, बड, पिलंखु, नन्दीवृक्ष, सल्लकी, वल्ली इनके कोंपल वे खाते थे । खाने में दूध, दही, मक्खन, घी के वर्णन से, 'भारत भूमि किस प्रकार सुजलाम्-सुफलाम् थी', यह जान पडता है ।

सूर्यविकासी, चंद्रविकासी, पुष्कर आदि कमल, उनकी डंडियाँ और टुकडे आदि खाने में इस्तेमाल करते थे । ये आधुनिक 'सॅलडस्' हैं । सालुककन्द, बिराली नाम स्थलकन्द, सरसों का कन्द भी खाये जाते थे ।

◆◆◆

(८) अहिंसा परमो धर्मः ।

– मंजु चोपडा

आचारांग में मुख्य रूप से मूल्यात्मक चेतना की सबल अभिव्यक्ति हुई है । इसका प्रमुख उद्देश्य अहिंसात्मक समाज का निर्माण करने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करना है, जिससे समाज में समता के आधार पर सुख, शान्ति और समृद्धि के बीज अंकुरित हो सकें । अज्ञान के कारण मनुष्य हिंसात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा श्रेष्ठ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है । वह हिंसा के दूरगामी कुप्रभावों को, जो उसके और समाज के जीवन को विकृत करते हैं, नहीं देख पाता । किसी भी कारण से की गई हिंसा आचारांग को मान्य नहीं है । हिंसा के साथ तालमेल आचारांग की दृष्टि में हेय है । वह व्यावहारिक जीवन की विवशता हो सकती है, पर वह उपादेय नहीं हो सकती । हिंसा का अर्थ केवल किसी को प्राणविहीन करना ही नहीं है, किंतु किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता का किसी भी रूप में हनन, हिंसा के अर्थ में ही सिमट जाता है । इसिलिए आचारांग में कहा है कि, ''किसी भी प्राणी को मत मारो, उस पर शासन मत करो, उसको गुलाम मत बनाओ, उसको मत सताओ और उसे अशान्त मत करो । धर्म तो प्राणियों के प्रति समता-भाव में ही होता है ।'' मेरा विश्वास है कि हिंसा का इतना सूक्ष्म विवेचन विश्वसाहित्य में कठिनाई से ही मिलेगा । समता की भूमिका पर हिंसा-अहिंसा के इतने विश्लेषण एवं विवेचन के कारण ही आचारांग को विश्वसाहित्य में सर्वोपरि स्थान दिया जा सकता है । आचारांग की घोषणा है कि प्राणियों के विकास में अंतर होने के कारण किसी भी प्रकार के प्राणी के अस्तित्व को नकारना अपने ही अस्तित्व को नकारना है ।

आचारांग मनुष्यों की संवेदनशीलता को गहरी करना चाहता है, जिससे मनुष्य एक ऐसे समाज का निर्माण कर सके जिसमें शोषण, अराजकता, नियमहीनता, अशांति और आपसी सम्बन्धो में तनाव विद्यमान न रहे । मनुष्य अपने दुःखों को तो अनुभव कर ही लेता है, पर दूसरों के दुःखों के प्रति वह प्राय: संवेदनशील नहीं हो पाता । यही हिंसा का मूल है । जब दूसरों के दुःख हमें अपने जैसे लगने लगे तो ही अहिंसा का प्रारंभ हो सकता है ।

'जीओ और जीने दो' अर्थात् ''सह-अस्तित्व'' अहिंसावाद का मूलमंत्र है, जिस पर समग्र जैन आचार की धुरी घूमती है । भगवान् महावीर ने कहा है कि चरित्र की शुद्धता से आत्म-कल्याण एवं पर-कल्याण दोनों होते हैं । महावीर की दृष्टि में किसी प्राणी की मात्र हत्या ही हिंसा नहीं है, यह तो उसका भौतिक और स्थूल रूप है । अहिंसा को केवल छोटे जीवों की हत्या न होने तक ही सीमित मान लेना उसकी एकांगी व्याख्या है । भगवान् महावीर ने शोषण, उत्पीडन, तिरस्कार को भी हिंसा माना है । वे तन की हिंसा के साथ साथ मन की हिंसा को अधिक भयंकर मानते हैं । महावीर की दृष्टि में प्रमत्तयोग अर्थात् कषायात्मक वृत्ति तथा कलुषित भावना ही हिंसा है ।

भगवान् महावीर ने सब तरह की हिंसाओं के उन्माद से बचे रहने की मानव को अहिंसा की विशुद्ध धर्मदृष्टि दी । उनकी वाणी की आधारशिला 'अहिंसा' के माध्यम से ही मानवता, विश्व-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व और वसुधैव कुटुम्बकम् का सर्वव्यापी प्रचार-प्रसार किया जा सकता है ।

◆ ◆ ◆

(९) भाषाजात अध्ययन : काही विचार

– सुमतिलाल भंडारी

सकाळी उठल्यापासून ते रात्री झोपेपर्यंत भाषेचा वापर आपण सतत करीत असतो. बऱ्याच वेळा बोलून गेल्यावर आपल्याला चुटपुट लागते. आपण दुसऱ्याला दुखावले, असे बोलायला नको होते असेही विचार मनात येतात. त्यामुळे भाषेचा वापर काळजीपूर्वक करणे आवश्यक ठरते. साधूंच्या बाबतीत गोचरी, विहार, प्रवचन, चर्चा या माध्यमातून भाषेचा वापर सतत होत असतो. हे लक्षात घेऊनच २६०० वर्षांपूर्वी आपल्या आचार्यांनी भाषाजात हे अध्ययन आचारांग श्रुतस्कंध–२ यात देऊन साधूंना भाषेचा वापर करण्याविषयीची मार्गदर्शक तत्त्वे सांगितली आहेत. भाषेचा वापर कसा करावा एवढेच न सांगता तो कसा करू नये हेही उदाहरणाद्वारे स्पष्ट केले आहे.

याचे दुसरेही कारण म्हणजे जैन संप्रदायात साधू हा त्याच्या कडक व संयमी आचरणाने नेहमीच आदरणीय ठरला आहे. त्याच्या शब्दाला वजन आहे. लोक त्यांना आपला मार्गदर्शक मानतात. अशा साधूची जनमानसातील प्रतिमा तशीच रहावी हाही या अध्ययनाचा हेतू असावा. साहजिकच भाषा वापराचे सूत्र सांगताना साधूने सत्य बोलावे, कटू सत्य सांगू नये, इतरांविषयी आदराने बोलावे, बोलण्यात बोचरेपणा, आक्रमकता नसावी. हिंसेला प्रवृत्त करणारी विधाने करू नये, अंधश्रद्धा पसरवणारी विधाने करू नयेत, अशी ३० मार्गदर्शक तत्त्वे सांगितली आहेत.

या तत्त्वांचा विचार करताना, ही तत्त्वे आजच्या काळात कशी पाळली जात आहेत हा विचार मनात आला. उदाहरणादाखल दोन तत्त्वांचा विचार करू.

पहिले म्हणजे कटू सत्य बोलू नये. हे साधूंना खरोखरीच शक्य आहे का? कारण कटू बोलल्याशिवाय सत्य प्रतिपादन करता येत नाही. कटू बोलल्याशिवाय तथ्य उमगत नाही. तसेच सत्य वदवून घेण्याकरिता कठोर मार्गाचा अवलंब करावाच लागतो. या संदर्भात २५०० वर्षांपूर्वी होऊन गेलेल्या शय्यंभवाचार्यांचे उदाहरण डोळ्यासमोर आहे ना ! सत्य जाणून घेण्याकरिता त्यांना आपल्या गुरूंवर तलवार उगारावी लागली होती.

तसेच समाजातील अपप्रवृत्ती दाखविण्याकरिता, त्यातील भयावहतेची जाणीव करून देण्याकरिता कठोर बोलण्याला पर्याय नाही. अन् तसे सांगणारा साधू अप्रिय ठरतो असे नाही. महावीर आपल्या प्रवचनातून 'लज्जमाणा पुढो पास' असे शब्द वापरीत. तरुणसागरजी महाराजांच्या प्रवचनाच्या पुस्तकाला 'कडवे प्रवचन' असे नाव आहे. अन् दोघेही जनमानसात आदरणीय आहेत.

दुसरी गोष्ट गुणग्राहकतेची. बुद्धिमान, गुणी माणसांचा साधूने गुणगौरव करावा. चांगल्याला चांगलेच म्हणावे असे नमूद केले आहे. पण हल्ली दिसते काय! पैसेवाल्या धनिकांचा गौरव तेवढा होतो आहे. उदोउदो होतो आहे. मग भलेही त्यांचे धंदे समाजविघातक का असेनात ! समाजोपयोगी कामाकरिता पैसा लागतो. तो असे धनिकच देऊ शकतात. हे जरी खरे असले तरी साधूने किती वाहवून जावे हे पहावेच लागेल. कारण अशा गोष्टींमुळे तरुण वर्ग जैन धर्मापासून दूर जाताना दिसतो आहे. तेव्हा साधूने विवेकाचे भान ठेवून कटू सत्य सांगावे, ते सांगण्यात प्रामाणिकता असावी, सांगताना कथामाध्यम निवडले तर ते परिणामकारक ठरते हे आगमांतील कथांतून दिसले आहेच. तसेच गुणग्राहकता जरूर दाखववावी परंतु ती करताना तारतम्य भाव ठेवून निरपेक्ष रितीने, नि:पक्षपातीपणाने करावी एवढेच वाटते.

◆◆◆

(१०) ईर्यैषणा आणि प्रदूषण

– लता बागमार

आचारांगात पाच समितींचा उल्लेख आला आहे. त्यातीलच एक ईर्यैषणा म्हणजेच ईर्यासमिती. एका ठिकाणाहून दुसऱ्या ठिकाणी जाण्याची आवश्यकता पडल्यावर विवेक आणि यतनापूर्वक गमनागमन करणे म्हणजेच ईर्यासमिती. द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावाने ती चार प्रकारची आहे.

समाजामध्ये सतत बदलाची प्रक्रिया चालू असते. गतिशीलता हे जिवंत समाजाचे एक लक्षण आहे. गतिमानतेचा अपरिहार्य परिणाम म्हणजेच प्रदूषण, पर्यावरणाच्या समस्या. जैनधर्मीय साधूंना सतत विहार करावा लागतो. विहार हा शब्द साधुआचरणाचा फार निकटचा म्हणून रहाण्याच्या प्रदेशाला विहार म्हणू लागले. विहार करताना साधूंना बऱ्याच नियमांचे पालन करावे लागते. रस्त्यातील प्राणीमात्रांना अभय देत, निसर्गातील वृक्षवेलींना त्रास न देता, 'सचित्त-पणग-दग' टाळून मर्यादित वेळेत यतनापूर्वक, विवेकसहित विहार करावा लागतो. हीच गोष्ट आपल्याला सुद्धा लागू पडते. माणूस हा पूर्वीपेक्षा जास्त गतिमान झाला आहे. प्रत्येकाच्या घरासमोर दोनचाकी, चारचाकी गरजेची झाली आहे. पण ह्या गरजेपायी कधीही न संपणारी गरज म्हणजे 'हवा' ह्या प्राथमिक गरजेचे आपण नुकसान केले आहे. हवेचे प्रदूषण, वायू नदीत सोडून जलप्रदूषण, सारखे हॉर्न वाजवून ध्वनिप्रदूषण आपण करतो. गरजेपुरताच गाडीचा वापर करून, एकाच ठिकाणी जायचे असेल तर एकट्याने न जाता बरोबर चारचौघांना घेऊन गेलो तर चार ऐवजी एकच गाडी धावून प्रदूषणाला आळा बसेल व ट्रॅफिक-जॅमची समस्या थोड्या प्रमाणात सुटेल.

त्याकाळी साधूंना मर्यादित नौकाविहारास परवानगी होती. चढताना, उतरताना साधूने काळजी घ्यावी. संकटकालीन परिस्थितीत न घाबरता मनावर संयम ठेवून आत्मस्वरूपात लीन होण्यास सांगितले. आताचा आपला नौकाविहार म्हणजे जलकायिक जीवांशी खेळून त्यांचा घात करणे होय.डिझेलयुक्त बोटी चालवून जलकायिक जीवांची हिंसा करणे होय. आज ठिकठिकाणी उभे राहिलेले वॉटरपार्क ! त्यात आपण वाटेल तशा उड्या मारतो व जलकायिक जीवांना भय उत्पन्न करतो. अशा ठिकाणी आपण आपल्या मनावर संयम ठेवून आपल्या इतकेच जलकायिक जीवांचे अस्तित्व महत्त्वाचे आहे हे भान ठेवावे.

विमानाने जग जवळ आले आहे. आता येथे असणारा माणूस दुसऱ्या-तिसऱ्या तासाला परदेशात असतो. परंतु रात्री-अपरात्री विमानाचे उड्डाण म्हणजे आकाशातल्या कारभारात केलेली ढवळाढवळच होय. विहार करताना साधूंना कोणत्याही औषधी वनस्पतींविषयी इतरांना माहिती देण्यास मनाई होती. किती दूर दृष्टिकोण आहे ! आज प्रचंड कारखाने उभारण्यासाठी जंगले जाळून टाकली जात आहेत. मोठमोठ्या यंत्राने मोठ-मोठी झाडे भुईसपाट होत आहेत. शेकडो झाडे तोडून फर्निचर बनविले जात आहे. शहराजवळ बंगला हवा म्हणून चांगल्या शेतजमिनीवर सिमेंटचे जंगल उभे रहात आहे. किती ही निसर्गाची मानवाने केलेली दुर्दशा ! बागेत बनविले वूडन हाऊस, दहा पावलावर असणाऱ्या स्थानकात जायला स्कूटर, वेगाने जाणाऱ्या गाड्या - याला आपण विकास म्हणतो. उलट हे वेगवान जीवन जगून आपण प्रदूषण वाढवितो.

प्रदूषणाची समस्या ही समाजाची समस्या आहे आणि व्यक्ती-व्यक्ती मिळून समाज बनतो. प्रत्येक व्यक्तीनेच जर ठरविले तर त्यावर तोडगा निघेल.

आठवड्यातून एक दिवस तरी स्वयंचलित वाहनांचा स्वयंस्फूर्तपणे बंद पाळले तर नक्कीच फायदा होईल.

ईर्यैषणा उपसंहार :- त्याग हा जीवनाचा आधार असावा. भोग ही प्रेरणा फार प्रबळ नसावी. निसर्गाचे आपण काही देणे लागतो ह्याचे ध्यान ठेवावे. त्याचा असंयमी वापर करू नये. विज्ञानाने जीवनात सुविधा निर्माण केल्या परंतु आनंदासाठी मात्र निसर्गच हवा. चालताना, वागताना त्याचे रक्षण करणे हेच आपले कर्तव्य. शक्य तेथे पायी जावून, लिफ्ट ऐवजी जिन्याचा वापर करून आपले आरोग्यही सांभाळावे. चालताना यतना आणि विवेकपूर्ण चालून अभयदानही करावे. शरीराला जास्त सुखसोयींची सवय न लावता आपल्या जीवनात आचारांगाला उतरवावे तरच आचारांग शिकण्याचा उद्देश सफल होईल. दशवैकालिकात सुद्धा सांगितले आहे की,

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।

जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं ण बंधइ ।।

◆◆◆

(११) आचारांग : उपोद्घात आणि उपसंहार

– ज्योत्स्ना मुथा

भगवान् महावीरांनी स्वानुभवाने जो उपदेश दिला त्याचे सार म्हणजे आचारांग. आचारांगाची सुरूवात ‘शस्त्रपरिज्ञा’ने करून ‘विमुक्ति’ने उपसंहार केला आहे. ‘सुयं’ श्रुतज्ञानाने मंगलाचरण करून प्रथम अबोध, भवी जीवांना आत्म्याचे अस्तित्व तसेच पूर्वभव-पूर्वजन्माची जाणीव करून दिली.

शस्त्रपरिज्ञा : जीवहिंसेला कारणीभूत साधनाला ‘शस्त्र’ म्हणतात. ती दोन प्रकारची. तलवार, बंदूक इ. ‘द्रव्यशस्त्रे’ तर हिंसा करण्यास प्रवृत्त करणारे आत्म्याचे काषायिक भाव ही ‘भावशस्त्रे’. द्रव्य आणि भाव शस्त्राने जीव मन-वाचा-काया योगाद्वारे, कृतकारित-अनुमोदित क्रियाद्वारे षट्कायिक जीवांची हिंसा करतो. त्यामुळे कर्मबंध होतो. जीवन निर्वाहाव्यतिरिक्त जीव वंदन, पूजा, प्रतिष्ठा, जन्म, मृत्यू, दुःखाचा प्रतिकार करण्यासाठी अज्ञानाने कर्मबंध करतो, संसारभ्रमण करत राहतो. हिंसेपासून होणारी ही भयंकरता जाणून त्यापासून निवृत्त होणे म्हणजे शस्त्रपरिज्ञा अर्थात् विवेकपूर्ण ज्ञान होय. असे ज्ञान जीवाला जातिस्मरणाने, तीर्थंकर उपदेशाने, ज्ञानी पुरुषांकडून होते. नंतर ‘णाणस्स फलं विरई’ या न्यायाने तो संयमी बनतो. कर्म व कर्मबंधाचे स्वरूप जाणणारा ‘परिज्ञातकर्मा मुनि’ होय. असा मुनी कसा असतो याचे वर्णन पद्यरूपाने विविध उपमांद्वारे ‘विमुक्ति’ अध्ययनात केले आहे.

विमुक्ति : तीर्थंकरांचा उपदेश ऐकून त्यावर नितांत श्रद्धा असलेला मुनी अनित्य संसाराचे स्वरूप जाणून घरपरिवाराचा, सावद्यक्रियांचा त्याग करतो. ‘सव्वेसिं जीवियं पियं’ अशी षट्कायिक जीवांबद्दलची संवेदनशीलता जागृत

होते. साधनाकाळात दुष्टजनांकडून होणारे उपसर्ग, संग्रामी अग्रभागी राहून शत्रुपीडा सहन करणाऱ्या हत्तीप्रमाणे तो सहन करतो. परिषह सहन करताना पर्वताप्रमाणे अकंप राहतो. दुष्कर अशा पंचमहाव्रतांचे पालन करून सापाने आपली कात टाकावी त्याप्रमाणे इहलोक-परलोक संबंधीची आसक्ती सहज सोडतो. तपतेजाने दाही दिशा आलोकित करून अज्ञान तिमिर दूर करतो. पुरुषार्थाने कर्ममलाचा नाश करून धैर्याने दुष्कर असा भवसागर पार करतो. क्षमादि दशविध धर्माने युक्त अशा मुनींचे तप, बुद्धि, यश वृद्धिंगत होते, तो कर्माचा 'अंतकृद्' होतो, मुक्त होतो.

यावरून – प्रथम अध्ययनात 'मी कोण ? कोठून आलो ? कोठे जावयाचे?' ही जिज्ञासा, त्यानंतरचे विवेकपूर्व ज्ञान अंतिम ध्येयापर्यंत नेते. वस्तूचा यथार्थ बोध ज्ञानाने होऊन हेय-उपादेयाचे स्वरूप जाणून केलेली क्रिया साध्यापर्यंत पोहोचवते. ही अध्ययने 'सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' या सूत्राची उगमस्थाने आहेत. प्रथम अध्ययन गद्यरूपात तर अंतिम पद्यरूपात आहे. जैन दर्शनाचे अंतिम उद्दिष्ट मोक्ष याद्वारे स्पष्टरूपाने समोर येते.

◆ ◆ ◆

(१२) आत्मजिज्ञासेपासून आत्मदर्शनापर्यंत

– पारमिता खणसे

आत्मजिज्ञासा हे जैनदर्शनाचे मूलसूत्र आहे. आचारांगसूत्र आत्मजिज्ञासेपासूनच सुरू होते. 'के अहं आसी ?' या प्रश्नाचे उत्तर देत असताना संपूर्ण आचारांगात वेळोवेळी आत्म्यासंबंधी चर्चा येते. आत्मा इंद्रियांनी जाणता येत नाही, तर त्याद्वारे होणाऱ्या क्रियांनी आत्म्याचे अस्तित्व समजते. या क्रियांमुळेच कर्मबंध व भवभ्रमण होते. शरीर–आकृती, वर्ण, नाम, गोत्र, सुख–दु:खांचे अनुभव व विविध योनींमध्ये जन्म या सर्वांमुळे प्रत्येक जीवाची स्वतंत्रता निदर्शनास येते.

'एगमप्पाए संपेहाए' या पदात आत्मा हा एकटा असून, एकटाच कर्म करतो व एकटाच कर्म भोगतो. दुसरे दार्शनिक म्हणतात की, भूतमात्रांना (पंचमहाभूतांना) दास बनवावे, त्यांच्यावर शासन करावे इ., त्यामध्ये काहीही दोष नाही. परंतु भ. महावीरांनी आचारांगात म्हटले आहे की, ही पंचमहाभूतेसुद्धा पृथक्–पृथक् एकेंद्रिय आत्मेच (जीवच) आहेत. आपल्याला जशा वेदना होतात, तशाच वेदना त्यांनाही होतात. त्यांची गणना एकेंद्रिय जीवात करणे, इतकेच नव्हे तर विकल मनुष्याला छेदन–भेदन–आघात इ. केल्याने जेवढे दु:ख होते तेवढेच दु:ख एकेंद्रिय जीवांना सुद्धा होते – इतक्या सूक्ष्म अंगांनी प्रत्येक जीवांचा विचार केला आहे. 'पंचमहाभूतांच्या आधारे म्हणजेच जैनदर्शनानुसार एकेंद्रियांच्या आधारेच सर्व जीव जगतात् राहतात' असे जवळजवळ सर्व दार्शनिक मानत असतील तरी त्यांना जीव संज्ञा देणे, हे फक्त जैनदर्शनाचेच वैशिष्ट्य आहे.

आजच्या काळात दुसऱ्यांबद्दल माणूस किती विचार करतो ? पदोपदी तो दुसऱ्यांना दुखावत असतो. अशा परिस्थितीत, एकेंद्रिय जीव आपल्यावर उपकार करत आहेत, त्यांच्याशिवाय आपले जगणेच अशक्य आहे आणि म्हणूनच निदान त्यांचा वापर तरी आपण कमी व सावधानीपूर्वक करावा, असे मार्गदर्शन आचारांगातून नक्कीच आपल्या अंतरात्म्यापर्यंत पोहोचते.

आत्मसाक्षात्कार करायचा तर कामना-वासना-इच्छा-आसक्ती इ.शी युद्ध करायला पाहिजे. या कर्मशरीराच्या वृत्ती असून त्या त्यागाव्यात. वेळोवेळी आत्मतुला करावी. भ. महावीर आत्मौपम्यभावाचे प्ररूपक होते. आहार, शय्या, भाषा, ईर्या इ. क्रिया करताना एकेंद्रियांपासून पंचेंद्रिय जीवांची यतना करावी, विवेक बाळगावा. पूर्ण आचारांगात कर्मक्षयाचे जे उपदेश दिले आहेत, त्याचेच अंतिम फळ म्हणजे 'मोक्ष' होय.

शरीर अनित्य, अशाश्वत, अध्रुव, विकारी, विध्वंस होणारे, चयापचयाने कमी-अधिक होणारे असे आहे. बदलता पर्याय हा शरीराचा धर्म असून रोग-व्याधी शरीरालाच होतात, आत्म्याला नाही. २६०० वर्षांपूर्वी सांगितलेले हे आत्मचिंतन, आत्मतत्त्व आजही तेवढेच सत्य आहे. कर्मनिर्जरेचे सांगितलेले उपाय आजही तेवढेच खरे आहेत. परंतु ग्रंथातून दिलेल्या मार्गदर्शनानुसार प्रत्यक्ष आचरण तितकेच आवश्यक आहे. तरच तो आत्मा पराक्रमी व पारगामी होऊ शकतो. खरोखरच आत्मजिज्ञासेपासून आत्मदर्शन येथेच मिळू शकते.

◆◆◆

(१३) आचारांग में सामाजिक उत्सव

– संगीता मुनोत

मानव मूलरूप से ही उत्सवप्रिय है । अपने हर एक कार्य को अपनों के साथ मिलकर मनाना उसे अच्छा लगता है । उत्सवप्रियता एवं समाजप्रियता एक सिक्के के दो पहलू हैं । आचारांग में कुछ इस प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं जिससे हमें मालूम होता है कि उस प्राचीन काल में उत्सव मनाने का कौनसा तरीका था।

आचारांग के 'पिण्डैषणा' अध्ययन में वर्णित उत्सव उस समय की सामाजिक परिस्थिति दर्शाते हैं । अठाई, पन्द्रह, मासखमण आदि तप के तथा उसके पारणे के उपलक्ष्य में लोग उत्सव मनाते थे । ऋतु-संबंधी त्यौहारों की भरमार थी । शरदोत्सव, वसंतोत्सव आदि समारोह ऋतु-आरंभ एवं ऋतु-समाप्ति पर होते थे । पितरों के श्राद्ध में भोज का आयोजन होता था ।

कौमुदीमहोत्सव, मदनमहोत्सव एवं इन्द्रमहोत्सव बडे पैमाने पर मनाया जाता था । इन्द्र, रुद्र, बलदेव, भूत, यक्ष, नाग आदि की पूजा-उपासना की जाती थी । चैत्य, स्तूप आदि निर्माण के समय भी काफी बडे समारंभ होते थे । प्राकृतिक चीजों की पूजा की जाती थी - जैसे - वृक्ष, पर्वत, गुफा, तलाव, सरोवर, नदी, सागर आदि ।

मनुष्यों के विविध संस्कार जैसे जन्म (वर्धापनक), नामकरण, विवाह आदि के उपलक्ष्य में उत्सव होते थे । मृत्यु के उपरान्त भी महाभोज का आयोजन होता था । इन दोनों का उल्लेख आचारांग में 'पूर्व-संखडी' और 'पश्चात-संखडी' के रूप में निदर्शित है । संखडी में मांसाहार, मद्यपान का भी प्रचलन था।

आचारांग के दूसरे श्रुतस्कंध में स्पष्ट रूप से बताया है कि, 'साधु-साध्वी किसी भी प्रकार के सामाजिक उत्सवों में शामिल न होवें । 'संखडी' अर्थात् सामूहिक भोज में भिक्षा-याचना के लिए न जाएँ ।' सामूहिक भोज में निहित विविध प्रकार की अशुद्धि एवं हिंसा का टीकाकारों ने अच्छी तरह विस्तार किया है ।

यद्यपि साधु-साध्वियों के लिए निषेध द्वारा विविध उत्सवों का जिक्र आचारांग में किया है, तथापि उस काल के सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश का परिचय इसके द्वारा हमें प्राप्त होता है । उस काल के उल्लास-उमंग-उत्साहपूर्ण सामाजिक जीवन की झलक इसमें प्रतिबिंबित है ।

◆ ◆ ◆

(१४) जैन–बौद्ध आचारविचार : साम्य–भेद

– शकुंतला केमकर

महावीरांचा काळ इ.स.पू.५२३ तर गौतम बुद्धांचा इ.स.पू.५६३. दोघांचा काळ जवळजवळ एकच. त्यावेळी समाजात यज्ञ–याग, पशुबळी यांचे स्तोम होते. दोघांनीही अहिंसेसाठी अथक प्रयत्न केले. दोन्ही धर्म श्रामण्यपर असल्याने जैन व बौद्ध साहित्यात अनेक संकल्पना, पदावली, उपमा, दृष्टांत यांमध्ये खूपच साम्य आढळते. त्यांचे प्रारंभिक विहारक्षेत्रही प्राय: एकच होते. म्हणून तेथील प्रचलित लोकभाषा अर्थात् 'अर्धमागधी' व 'पाली' त्यांनी उपदेशासाठी स्वीकारल्या. दोघांनीही ऐन यौवनात गृहत्याग केला. दीर्घकाळ खडतर तपस्या, ध्यान व चिंतन केले. महावीरांच्या आत्मसाक्षात्कारास 'केवल–ज्ञान–प्राप्ती' म्हणतात तर गौतम बुद्धांच्या आत्मसाक्षात्कारास 'बोधि' म्हणतात. ज्ञानप्राप्तीनंतर दोघांनीही दीर्घकाळ विहार करून धर्मोपदेश दिला.

महावीरांची वाणी त्यांच्या गणधरांनी सूत्ररूपाने संकलित केली. तीन वाचनांच्या नंतर ती अकरा अर्धमागधी अंग–ग्रंथांच्या रूपाने ग्रंथारूढ झाली. गौतम बुद्धांच्या मुखातून उत्स्फूर्तपणे गाथारूपाने बाहेर पडलेला उपदेश, त्यांच्या शिष्यांनी संकलित केला. त्यांच्याही तीन 'संगीति' (वाचना) झाल्या. आज 'त्रिपिटका'च्या रूपाने तो उपदेश उपलब्ध आहे. अर्थात् दोघांच्याही साहित्यात वेळोवेळी भर पडलेली दिसते.

महावीरांनी सर्व जीवांच्या समानतेवर अधिक भर दिला. एकेंद्रियांची हिंसा करताना सदैव अप्रमत्तता ठेवण्याचा उपदेश दिला. बुद्धांची हिंसा इतकी सूक्ष्म नसून बरीच व्यावहारिक आहे.

महावीरांनी 'सत्'चे स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त मानले. बुद्धांनी क्षणिकतेवर अधिक भर दिला. दुःखमुक्तीचे उपाय सांगितले. महावीरांनी पूर्वकर्मांच्या संपूर्ण निर्जरेने निर्वाणप्राप्ती सांगितली. बुद्धांचा मार्ग मध्यम-मार्ग होता. त्यांनी स्वत: कष्ट करण्यावर, करुणेवर भर दिला. पाप न करणे, चांगल्या संगतीत राहणे, चित्त शुद्ध ठेवणे - यावर म्हणजे शीलपालनाला महत्त्व दिले. आचारांगाच्या पहिल्या श्रुतस्कंधात आभ्यंतर संवेदनशीलतेला प्राधान्य दिले. बाह्य आचाराचे प्रामुख्याने निरूपण दुसऱ्या श्रुतस्कंधात केले. बौद्धांच्या 'विनयपिटका'त भिक्षू-भिक्षुणींच्या आचार-व्यवहारांची नियमावली दिली आहे.

महावीरांनी तपस्येचे १२ प्रकार सांगून शरीर कृश करण्यावर भर दिला तर तथागतांनी कडक तपाला व ओढवून घेतलेल्या शारीरिक क्लेशांना कडवा विरोध केला. तथागत म्हणतात, ''तपाने शरीरास पीडा होते. बाकी काही साध्य होत नाही, प्रथम स्वत:स सुरक्षित ठेवा.''

दोघांनीही ब्रह्मचर्य-व्रतास महत्त्व दिले. महावीरांच्या संघात पूर्वपरंपरेनुसार स्त्री-दीक्षा दिल्या जात होत्या.

श्वेतांबर मान्यतेनुसार पुरुषच काय पण स्त्रिया व नपुंसकही 'सिद्धपद' प्राप्त करू शकतात. बुद्धांचा आरंभी स्त्री-दीक्षेस विरोध होता. आनंद व माता गौतमी यांच्या आग्रहास्तव त्यांनी स्त्री-दीक्षेस अनुमती दिली. जैन धर्मानुसार साधूंसाठी पाच व्रते महत्त्वाची तर बुद्धांनी दहा नियमांचे पालन आवश्यक मानले. जैनात जसे 'पौषधव्रत' तसे बौद्धांमध्ये ' उपोसथव्रत' आहे.

जैन श्रमणांसाठी आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान, वस्तू - सर्व काही 'प्राशुक' व 'एषणीय' असणे महत्त्वाचे आहे. पायी विहाराचे कडक नियम आजही पाळले जातात. बौद्ध धर्मात मठ-विहार बांधून राहण्याची मुभा आहे. आहार-एषणेचे

प्रस्थ नाही. जी भिक्षा मिळेल ती सामान्यतः ग्रहण करतात. विहारासाठी व धर्मप्रसारासाठी वाहन वापरण्याची मुभा आहे.

जैन धर्मात अहिंसा-अनेकान्त व कर्मसिद्धांतास प्राधान्य आहे. बौद्ध धर्मात मैत्री, करुणा, स्वावलंबन, सेवा व ध्यान यांना महत्त्व आहे. कडक आचारपद्धती व सूक्ष्म तत्त्वज्ञान यामुळे जैन धर्माचा प्रचार कमी झाला. मध्यम आचार आणि सोपे तत्त्वज्ञान यामुळे बौद्ध धर्म जगभर पसरला.

आज घडीला भारतात पाळला जाणारा जैन धर्म आणि तत्त्वज्ञानाचा अभ्यास, आज घडीला भारतात अस्तित्वात असलेल्या बौद्ध धर्मापेक्षा निश्चितच मूलगामी, व्यापक व समाजनिष्ठ आहे. साधुवर्ग व श्रावकवर्गाची घट्ट वीण हे त्याचे कारण आहे.

◆ ◆ ◆

(१५) आचारांगात वनस्पती आणि पर्यावरण

– साधना देसडला

‘मुठा नदीचे पाणी पिण्याजोगे, वापरण्याजोगे नाही’, हे वाचले, अन् मनात विचार आला, ‘याला कारणीभूत सर्व मानव समाज आहे.’ निर्माल्य, सांडपाणी, कागद-कचरा, प्लॅस्टिक इ. अनेक गोष्टी रोजच नदीत टाकल्या जातात. वनस्पतिकाय, जलकाय सर्वांची हत्या होते.

भ. महावीरांनी २६०० वर्षांपूर्वी वनस्पतींची तुलना सजीवांबरोबर केली. पृथ्वीकाय, अप्काय इ. षट्जीवनिकाय हे सर्व सजीव एकेंद्रिय जीव आहेत. मानव शरीरावर जे गुण-पर्याय आपल्याला दिसतात तसेच ते वनस्पतींच्या शरीरावरही दिसतात. विज्ञानाने सुद्धा हे मान्य केले आहे. जैनदर्शन हे एकमेव असे दर्शन आहे ज्याने या सर्वांबद्दल आस्था दर्शविली आहे, त्यांचा बारकाईने विचारही केला आहे.

‘जो एगं जाणइ से सव्वं जाणइ’ – जो एका आत्म्याला जाणतो, तो सगळे जाणतो. हेच दुसऱ्या शब्दात म्हणायचे झाले तर, ‘जो एका षट्जीवनिकायाला जाणून वाचवेल, त्याकडून बाकीच्या जीवांचे आपोआपच रक्षण होईल.’

सध्याच्या पर्यावरण असंतुलनाला जर आळा बसवायचा असेल तर सगळीकडे ‘झाडे लावा, झाडे वाचवा’, असे नुसतेच लिहिण्यापेक्षा काहीतरी कृती करायला हवी. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव यानुसार सर्व काही बदलत आहे. पूर्वापार चालत आलेल्या कितीतरी चालीरिती आपण आपल्या व इतरांच्या सोयीसाठी बदलत आहोत. तर मग देवांची पूजा करण्याची पद्धत का बदलू नये ? पाने, फुले, तांदूळ, शेंगदाणे इ. वाहण्यानेच का देव प्रसन्न होतो ? आपण हे सर्व तोडून

जीवांची हत्या करतो, पाण्यात टाकून त्यातील जीवांची हत्या करतो. शनिवारी जागोजागी लिंबू-मिरची लावणे, फोटोंना रोज नवे हार घालणे, काही ठिकाणी तर दिवसातून ४-५ वेळेस देवांचे हार बदलणे, देवाला तेल वाहणे इ. यापेक्षा तो पैसा साठवून एखाद्या गरजूला शिक्षण, औषध, भुकेलेल्याला जेवण देता येईल. राजकीय नेत्यांना एवढे मोठे हार घातले जातात. पैसा वाया जातो व फुलांची हत्या होते.

'सूरज की गरमी से जलते हुए तन को मिल जाए तरवर की छाया', हे गाणे ऐकल्यावर वाटते की – 'झाडांची सावली मिळायला झाडे तर शिल्लक हवीत ना!' रस्त्यांचे रुंदीकरण, कागद बनवणे, चंदन तस्करी, फर्निचर इ. अनेक कारणांनी वृक्षतोड होते. दसऱ्याला तर आपट्याची पाने खूप तोडली जातात व बरीच वायाही जातात. दसरा, दिवाळी, पाडवा इ. अनेक उत्सवात कितीतरी फुले तोडली जातात व जास्त झाली म्हणून रस्त्यावर फेकली जातात. काही वर्षांनंतर आपल्या पुढच्या पिढीला ही झाडे इंटरनेटवर पाहायला मिळतील. एके ठिकाणी वाचले – 'पडता पडता झाड म्हणाले आमची कोठेही शाखा नाही', अन् मन सुन्न झाले.

उपसंहार :

सकल जैन समाजाने एकत्र येऊन असे ठरवावे की – यापुढे लग्न, इतर समारंभ, उत्सव इ. हिरवळीवर करू नये. फुलांचे डेकोरेशन करू नये. पुष्पगुच्छ देऊ नयेत. या सर्व जुन्या-नव्या प्रथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाचा विचार करून बंद कराव्यात. निदान भ. महावीरांचे अनुयायी आहोत तर एक चांगले पाऊल अहिंसेकडे उचलू या. आचारांग जीवनात उतरवू या.

◆◆◆

(१६) साधु–आचारास श्रावक कसा पूरक ठरेल ?

– शोभा लोढा

आचारांगात भ. महावीरांनी सतत आजूबाजूचे निरीक्षण करायचा सल्ला दिला आहे. आचारांगातील षट्जीवनिकायांच्या उपदेशाचे नीट मनन केले तरच आपण जमीन, पाणी, ऊर्जा, वायू व वनस्पतींना नीट जपू शकू. सचित्त–अचित्ताचे नीट ज्ञान झाले की साधु–साध्वींच्या आहारपाण्याची योग्य व्यवस्था करता येईल.

साधुसंत थांबण्याच्या जागेची आपण सोय करीत असू तर वर्षभरच ती जागा आपल्याला झाडून–पुसून स्वच्छ ठेवली पाहिजे. विहार करताना त्यांना चांगली व जवळची वाट दाखविली पाहिजे. सोबत केली पाहिजे. आडमार्गाने जाण्यात जे धोके आहेत ते यामुळे टळू शकतील. भ. महावीर खरोखरच द्रष्टे होते. वाहनांच्या अति–वापरामुळे होणारे धोके आणि प्रदूषण जणू त्यांना कळले होते. म्हणूनच त्यांनी साधूंना पायी विहार सांगितला.

आचारांगाने साधूंच्या भाषिक व्यवहारासाठी घालून दिलेले नियम आपण वाचले. त्या नियमांचे यथाशक्ती पालन श्रावकासही फायदेशीर ठरेल. साधूंची भाषैषणा जाणून श्रावकाने ठरवावे की आपण त्यांच्याशी जादा जवळीक ठेवू नये. कुटुंबकथा करू नयेत.त्यांच्याकडून सांसारिक गोष्टीतले सल्ले–मार्गदर्शन घेऊ नये. साधु–संत हे समाजाचे धार्मिक व आध्यात्मिक सल्लागार आहेत. कौटुंबिक, भावनिक समुपदेशनाची अपेक्षा ठेवू नये.

आचारांगातील वस्त्रैषणा जाणून त्यांना जादा व चांगली वस्त्रे वापरणे व साठवणे याच्या मोहात पाडू नये. तीच गोष्ट पात्रैषणेची. त्यांना अत्यंत साधी,

लाकडी पात्रे कल्पतात. प्लॅस्टिक इ. पासून बनलेल्या आकर्षक, रंगीत पात्रांची त्यांना सवय लावू नये. आगमामध्ये श्रावकांना 'अम्मा-पिया' असे संबोधन वापरले आहे. आपण आई-वडील असू तर साधु-संतांच्या आध्यात्मिक प्रगतीच्या आड येईल अशी कोणतीही गोष्ट आपण करू नये. आपली ही जबाबदारी आहे की त्यांच्या आचरणातील काही चूक आपल्या लक्षात आली तर नम्रतापूर्वक ती त्यांच्या निदर्शनास आणून द्यावी.

साधू-आचाराचे नियम आपल्याला नीट माहीत असतील तरच आपण साधूंच्या संयम-पालनाला सहायक अशा गोष्टी करू शकू.

म्हणूनच प्रत्येक जैन व्यक्तीला आपण आचारांग शिकण्यास प्रोत्साहित करू या.

◆ ◆ ◆

(१७) साधूंची रोगचिकित्सा

– कमल बोथरा

आचारांग हा साधुआचाराचे नियम सांगणारा ग्रंथ आहे. 'अहिंसेचे पूर्णांशाने पालन करणाऱ्या साधूने स्वशरीरात रोग उत्पन्न झाला तरी चिकित्सा करवून घेऊ नये' असे आचारांगात सांगितले आहे.

कारण पूर्वी जीवांचे छेदन-भेदन-हनन करून, त्यांची चरबी, हाडे, शिंगे, मज्जा, मांस इ.चा उपयोग करून औषधे बनविली जात होती. अशा औषधांनी ज्यांची चिकित्सा केली जाईल, त्यांचाही त्या हिंसेत सहभाग होतो. ते कर्मबंधाचे कारण ठरते. असे विधान स्वत: महावीरांनी केले आहे.

(**संदर्भ :–** आचारांग १-लोकविजय-सूत्र क्र.१४७)

प्रारंभी महावीरांनी साधूंसाठी रोगचिकित्सेचा पूर्ण निषेध केला आहे. अपरिग्रहव्रतधारी साधूला शरीराचे ममत्व ठेवून चालणार नाही. त्याने विचार करावा, 'शरीर हे नाशवंत आहे. असाता वेदनीय कर्माच्या उदयाने माझ्या शरीरात रोग उत्पन्न झाला आहे. कायक्लेश परीषह समभावाने सहन केल्याने माझी कर्मनिर्जरा होईल.'

रोगचिकित्सा केल्याने रोगापासून मुक्त होऊन मला दीर्घायुष्य लाभेल, असा विचार साधूने करू नये. कारण आयुर्वर्धन संकल्पना जैन कर्मसिद्धांतात बसत नाही. प्रत्येकाची आयुमर्यादा आधीच ठरलेली असते. तैल, मर्दन, अभ्यंग, वमन, विरेचन, बस्ति ही आयुर्वेदातील पंचकर्मेही साधूंसाठी निषिद्ध मानली गेली. यावरून ते नियम काटेकोर असावेत.

असे हे काटेकोर असलेले नियम पुढे छेदसूत्र काळापर्यंत शिथिल होत गेले. 'वनस्पतिजन्य प्रासुक एषणीय द्रव्यांच्या आधारे साधूने रोगचिकित्सा करवून घ्यावी', असा नियम रूढ झाला. कल्प, व्यवहार, निशीथसूत्रे यांमध्ये साधूंनी करावयाच्या चिकित्सेचे वर्णन येते.

रोगाने पीडित झालेल्या साधूंच्या आचरणात शिथिलता येईल व स्वाध्याय-ध्यानधारण-तप-जप-साधने याकडे त्याचे लक्ष लागणार नाही. म्हणूनच 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' या उक्तीनुसार शरीर स्वस्थ ठेवणे गरजेचे आहे. कारण साधकाचे अंतिम ध्येय मोक्ष व ते मिळविण्यासाठी करावा लागणारा पुरुषार्थ यासाठी शरीर हेच साधन आहे.

आचारांगात आलेली रोगांची नावे, रोगचिकित्सेचे प्रकार यावरून त्यावेळचे वैद्यकशास्त्र किती प्रगत होते ते कळते. आजही अभ्यासकास ते मार्गदर्शक ठरते.

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार परिस्थिती बदलली आहे. आज मात्र समाजात साधुसाध्वींसाठी सर्व प्रकारच्या रोगचिकित्सा व त्यावर करावे लागणारे उपचार म्हणजे शस्त्रक्रियेपर्यंत विकास झाला आहे. यावर कर्मनिर्जरेसाठी ते गुरूंकडून प्रायश्चित्तही घेताना दिसतात. सर्वसंगपरित्याग केलेला असला तरी तेही मनुष्यच आहेत.

◆ ◆ ◆

(१८) महावीरांनी निरीक्षणाला दिलेले महत्त्व

– कल्पना मुथा

'पास', 'पासह', 'पासेज्जा' हे शब्द आचारांगात बऱ्याच ठिकाणी दिसतात. 'आजूबाजूला असलेल्या घटकांचे नीट निरीक्षण करून त्याचे स्वरूप समजावून घ्या व प्रत्येकाशी कसे वागावे याचा सखोल विचार करा', हीच आचारांगाची प्रमुख सुरुवात होय. पूर्वपरंपरेने महावीरांनी जे ऐकले, अनुभवले त्यावर स्वत:चे निरीक्षण, चिंतन करून पहा, विचार करा असे सांगून साधूला व श्रावकाला सावध केले. सृष्टीचे दार उघडले.

सर्व एकेंद्रियांपासून स्थूलापर्यंत सर्वांना मनापासून जाणले तर त्यांच्यात सुद्धा प्राणचेतना, संवेदना आहे हा सूक्ष्म आणि व्यापक विचार महावीरांनी केला. एकेंद्रियांच्या वेदनेला आवाज दिला. त्या वेदना आपल्यापर्यंत पोहोचवल्या. जरी या जीवांना आपल्या वेदना व्यक्त करता आल्या नाहीत आणि आपल्याला सुद्धा त्या कधी कळल्याच नाहीत, त्यांच्यात जीवत्व आहे ह्या दृष्टीने आपण कधी त्यांच्याकडे पाहिलेही नाही. हीच सूक्ष्म दृष्टी महावीरांनी आपल्याला दिली. ह्या स्थावरकायिक जीवांच्या सहभागामुळेच आपण जगत असतो. हे जीव सुद्धा मनात प्रेमभाव धरूनच असतात. हे निरीक्षणाने कळल्यामुळे क्रिया-प्रतिक्रिया करताना उदारभाव ठेवता आला. सावधानतेबरोबर जागरूकताही आली.

प्रत्येक विषम परिस्थितीकडे समभावाने पहा, हे त्यांचे वक्तव्य आजच्या धावपळीच्या, अनित्य अशा जीवनात समुपदेशनाचे काम करते. जीवनातील मरगळ दूर होवून प्रत्येक गोष्टीकडे 'पॉझिटिव्ह अँगल'नेच पाहिले जाते.

'णालं पास' अशा छोट्या सूत्राद्वारे भोगोपभोग व परिग्रह यामुळे अविश्वास व भय कसे वाढीला लागतात याचे मानवी विचारांच्या अनुषंगाने कलेले निरीक्षण कळते आणि संसारात मर्यादेबरोबरच सहनशीलता वाढवण्याची दृष्टी येते.

अहिंसा ह्या संकल्पनेचा प्रारंभच ह्या स्थावर जीवांच्या रक्षणाने झालेला दिसतो. त्यामुळे 'पास लोए महब्भयं' या सूत्रामुळे पंचकर्म, सौंदर्य चिकित्सा, स्पा थेरपीज् याकडे पहाण्याची चिकित्सकवृत्ती आली. सौंदर्य वाढवणाऱ्या वस्तूंमध्ये त्या जीवांविषयी करुणाभाव दिसू लागला.

महावीरांची दूरदृष्टी अफाट होती. ते 'आयतचक्खु' होते. ज्या समस्या आपणास आत्ता भेडसावत आहेत त्यांचा विचार त्यांनी त्याकाळीच केला. अन्न, पाणी, वस्त्र याचा गरजेपुरताच वापर केल्यास पर्यावरण संतुलनाबरोबर मानसिक संतुलनही रहाते हे जाणवले व त्यादृष्टीने विचार करण्यास चालना मिळाली. साधूंची आचारसंहिता सूक्ष्म निरीक्षणातूनच बनवली. साधूने न पहाता, काळजी न घेता कोणतीही गोष्ट करू नये. त्यांनी आहार, विहार, भिक्षा, रहाण्यासंबंधी समितीयुक्तच जीवन जगावे. महावीरांचे सूक्ष्म निरीक्षण समाजातील अनेक भिक्षूंना योग्य मार्गदर्शनच ठरले.

त्याकाळची खान-पान व्यवस्था, उत्सव, वस्त्रे, घरे, भोजनसमारंभ यातून भारताच्या समृद्धीचे, भरभराटीचे दर्शन होते. आपण किती मॉडर्न, आधुनिक, सुधारित, रॉयल राहणीमान जगतो हा व्यर्थ अभिमान हे सर्व पाहून गळून पडतो. आपण फक्त कृत्रिमता व भपकेबाज यात गुरफटत आहोत, हे समजते.

उपसंहार :

आचारांग हे खऱ्या अर्थाने विचारांग आहे. 'पास, पासह, पासेज्जा' हे सांगून चिंतन करायला लावते. कोणतीही साधनसामग्री उपलब्ध नसताना केवळ निरीक्षणातून आपल्याला इथपर्यंत आणून सोडले की, आपण प्रत्येक गोष्ट करताना निरीक्षण करायला शिकलो तर आपल्या हातून पण हिंसा कमी होईल.

◆◆◆

(१९) कर्मप्रवृत्ति एवं हिंसा

– अर्जुन निर्वाण

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के 'शस्त्रपरिज्ञा' इस पहले अध्ययन में महावीर कहते हैं कि, जन्म लेनेवाले हर जीव को जीने के लिए कर्म करना पडता है । इसमें मनुष्य का विचार करते हुए बताया है कि, वह किन कारणों से क्रियाओं में प्रवृत्त होता है, वे निम्नप्रकार हैं – दूसरों से

१) प्रशंसा, कीर्ति के लिए – अपने को श्रेष्ठ बताने के लिए –साहसिक प्रतियोगिताओं में भाग लेना ।

२) सम्मान पाने के लिए अधिक धनोपार्जन और बाह्य एवं आंतरिक बलवर्धन।

३) पूजा, द्रव्यपूजा, इष्टदेव की पूजा के लिए भागदौड । हर कोई अपने गुण गाए इसके लिए प्रयत्न ।

४) जन्म – अपत्यप्राप्ति और अगले जन्म के लिए अनेकों कर्म ।

५) मरण – पितरों के लिए और वैरशमन के लिए अनेक क्रियाकलाप।

६) मोक्ष – अनेक प्रकार की उपासना में मग्न होकर मुक्ति के लिए प्रयत्न।

७) दु:ख प्रतिकार – रोगनिवारण के लिए औषधि रसपान प्रयोग और उसके लिए हिंसा कर्म ।

यह वर्गीकरण इतना परिपूर्ण है कि बदलाव की कोई गुंजाइश नहीं। महावीर हर मुद्दे के जड तक जाकर सोचते हैं । उनकी पैनी नजर से कोई बात छूटती नहीं । यह कारण इसलिए गिनाए गए हैं ताकि कर्म करने से होनेवाली हिंसा न्यूनतम हो । जीविका के लिए पर्याप्त हिंसा ही हो । उसका अतिचार न हो ।

यह कारण श्रावकों के लिए अधिकतर लागू है। परंतु साधु को भी इनसे बचना चाहिए ।

महावीर अपनी बात सूत्र रूप में संक्षेप में कहते हैं । उसे समझने के लिए गुरुजनों का सहारा लेना पडता है । ऐसे बहुत से सूत्र आचारांग में हम पाते हैं।

◆◆◆

(२०) आचारांगाचा मौल्यवान् संदेश

– शकुंतला चोरडिया

आचारांग ह्या प्राचीनतम जैन ग्रंथातील प्रथम श्रुतस्कंधात अनेक छोटी छोटी सूत्रवजा वाक्ये आहेत. त्या छोट्या अर्थपूर्ण मौलिक वाक्यातून सजग जीवन जगण्याचा जणू धागाच सापडतो. 'णत्थि कालस्स णागमो' ह्या हृदयस्पर्शी वाक्याने केवढा मोठा संदेश दिला आहे. काळाचा काही भरवसा नाही. तो केव्हाही येईल आणि येथील जीवनयात्रा संपून जाईल. तेव्हा प्रतिक्षणी आयुष्याचे अनमोल क्षण संपत आहेत ह्याचा विसर पडलेल्या अज्ञानी भोळ्या जीवाचे सद्यस्थितीचे चित्रण डोळ्यासमोर तरळते.

'अहिंसा परमो धर्म:' म्हणवणारे पूजा, सन्मान, सत्कार, प्रतिष्ठेसाठी स्थावर जीवांची वारेमाप हिंसा करत आहेत. विषयवासनेच्या आधीन झालेल्या माणसाची इंद्रियांचे लाड पुरवण्यासाठी नको तेवढी धडपड चालली आहे. आप्त, स्वकीय, प्रियजनांच्या मोहाने प्रेमाने वेडावलेला माणूस सुखसमृद्धी प्राप्त करण्यासाठी रात्रंदिवस धावत आहे. जसजसे पैसा, ऐश्वर्य, मानमरातब वाढत चालले, तसतसे विवेकाचे डोळे बंद झाले आणि अनीतीचे मार्ग खुले झाले. दुराचारी लोकांची संगत वाढली. पैसा मिळविण्यासाठी किती खालच्या थरापर्यंत तो पोहोचला ! 'माझे हात कोठपर्यंत पोहोचले आहेत' हे दाखविण्यासाठी पुढाऱ्यांची मनमानी केली. मोठमोठ्या पार्ट्यांचे आयोजन केले. मोठमोठ्या देणग्या देऊन नावाच्या पाट्या लावल्या. नावलौकिक, प्रतिष्ठा मिळवून सुखाची प्राप्ती केली. पण तीही क्षणिकच ठरली.

ह्या आट्यापिट्यात धावता धावता इंद्रियांनी साथ सोडली. ती शिणली. असाध्य व्याधींनी शरीरात ठाण मांडले. वेदनांनी घेराव घातला. हायत्राय सुरू झाली. सर्वांना हवाहवासा वाटणारा तोच आता नकोसा झाला. अनीतीने आणलेल्या लक्ष्मीनेही पाठ फिरवली. ज्यांच्यासाठी एवढी मेहनत केली त्यांनीही तोंड फिरवले. तेव्हा भगवंताचे शब्द आठवले - 'णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा ।' स्वजन आदि शरण देण्यात असमर्थ आहेत. सांसारिक सुख हे सारे क्षणिक आहे, अस्थिर आहे, स्वप्नवत् आहे. अज्ञानी अवस्थेत सांसारिक भोग-उपभोगात दुर्लभ जीवनाची इतिश्री केली. आणि जन्म मरणाच्या चक्रात पुन्हा अडकला. ही जीवाची अज्ञानी अवस्था पाहूनच आचारांगाच्या दुसऱ्या श्रुतस्कंधातील विमुक्ती अध्ययनात आचार्यांनी तत्त्वदर्शी विधाने केली आहेत असे वाटते.

संसारात मनुष्याचे शरीर, सुखसमृद्धी, नातीगोती सारे अनित्य आहे. तेव्हा निर्भयतेने राग, द्वेष, मोह, आरंभ, परिग्रहाचा त्याग कर. सर्वांनाच आपले जीवन प्रिय आहे. म्हणून कोणत्याही जीवाची हिंसा करू नकोस. कोणीही निंदा केली, तिरस्कार केला, दुर्व्यवहार केला तरी समभावनेने सहन कर. उत्तम क्षमा आदींचा स्वीकार करून तृष्णेचा त्याग कर. तपोबल वाढव. कर्माचा नाश करण्यासाठी पंचमहाव्रतांचे पालन कर. सर्व परीषह अनासक्त भावनेने सहन करून कर्मबंधनातून मुक्त होऊन अक्षय, अव्यय, निराबाध अर्थात् मोक्षाचा स्वामी हो.

◆ ◆ ◆

(२१) आचारांग : एक चिन्तन

– कमला खिंवसरा

श्री आचारांगसूत्र जैन वाङ्मय का प्रधान अंगसूत्र है । इस आगमसूत्र में जैन श्रमण के आभ्यंतर और बाह्य आचारव्यवहार का व्याख्यान किया है । बौद्धग्रंथ के विनयपिटक में तथा वैदिक परंपरा के धर्मसूत्र और स्मृतिग्रंथों में भी इसी प्रकार के आचार विधान हैं – जो तत्कालीन गृहत्यागी भिक्षुवर्ग के लिए आचार स्पष्ट करते हैं ।

आचारांग के प्रथम अध्ययन का महत्त्व अनोखा है । पर्यावरण, बिजलीबचत, वृक्षबचाव, प्राणिसंरक्षण, वातावरण संतुलन, ऋतुचक्र आदि अनेक विषय उसमें निहित हैं । भ. महावीर के तत्त्वज्ञान का उपयोग आज भी किया जाय तो उक्त समस्याओं पर सहजता से मात की जा सकती है । भ. महावीर द्वारा प्रतिपादित योगसाधना, बारह प्रकार की तपस्या यह बहुत बडी देन है जो जगत् के लिए उपकारी है । इनसे मानसिक तथा शारीरिक आरोग्य अच्छा रहता है ।

सांख्यदर्शन में 'प्रकृति–पुरुष विवेक' इन शब्दों का उपयोग है तो जैनदर्शन 'जड–चेतन विवेक' के साथ विनय की प्रधानता देता है । सांख्य मतानुसार पंचमहाभूत जड हैं (अर्थात् पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नी, आकाश) तो जैनदर्शनानुसार चेतन हैं । सद्यस्थिति में पदयात्रा का उपयोग राजकीय क्षेत्र में अपने स्वार्थ के लिए किया जाता है तो जैनदर्शन में प्राचीन काल से ग्रामानुग्राम पैदल विहार करने का विधान है । जिससे साधु–साध्वी धर्मप्रचार एवं आचार का पालन अच्छी तरह से कर सके ।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में साधु–चिकित्सा का विषय प्रतिपादित है। अतिप्राचीन काल में साधु–साध्वी चिकित्सा नहीं करते थे । उस वेदना को

समभाव से सहन करें, ऐसा नियम था । परंतु कालानुसारी इसमें परिवर्तन नजर आता है, जो कि जरूरी भी है । साधुसंतों की एषणीय, अहिंसायुक्त चिकित्सा की जाती है ।

आचारशुद्धि आचार का प्रथम अंग है । इसमें भी कालानुरूप हम परिवर्तन देख रहे हैं । जैसे - साधु-साध्वी के लिए एक ही समय आहारग्रहण का विधान है । वाहनप्रयोग, विहारविधान, व्हिलचेअर, निहार पद्धति, चिकित्सा तपस्या का आडंबर, वस्त्रपरिधान, आवासनिवास व्यवस्था, पात्रों की संख्या, भाषाविवेक, संसारपक्ष के प्रति दृष्टिकोण, शिक्षण, साहित्य, पत्रिका, सीडी, कॅसेट, मोबाईल इ. - इस प्रकार परिवर्तन हुआ है और आगे भी होता रहेगा । इनमें से कई बातें आवश्यक भी हैं । लेकिन हमारा कर्तव्य बनता है कि ढील देते देते कही सारसूत्र न खो जाए ।

◆◆◆

आचारांग - काव्यकुंज

(१) आचारांग : काव्यातून

– डॉ. नलिनी जोशी

२६ शतकं उलटून गेली, एक दशकही पुढचं सरलं
आचारांगातलं विचारसंचित आजही तितकंच ताजं वाटलं

१) आत्मशोधापासूनचा प्रवास संथाऱ्यापर्यंत येऊन ठेपला
तुझ्या पाउलखुणा शोधत आम्हीही थोडा करून पाहिला
वाटलं होतं आचारांगात असेल सारं साधूंसाठी
विसाव्याच्या छाया दिसल्या तुम्हा आम्हा सर्वांसाठी
पहा-बघा-विचार करा तळमळून तू सांगितलंस
डोळे मिटून जगणाऱ्यांसाठी झणझणीत शब्दात अंजन घातलंस
वेदनाग्रस्त इंद्रियांना तू तुझा आवाज दिलास
आवाजातून त्यांचा आक्रोश, आमच्यापर्यंत पोहोचवलास
(अन् जाणीव झाली)
जगण्यासाठी, कीर्तीसाठी, दुःखापासून सुटकेसाठी
धर्मासाठी, मोक्षासाठी किती ओझं बांधलं पाठी !
'परिज्ञे'चा खरा अर्थ, थोडा जरी समजला, उगारलेली 'शस्त्रं' आमची
म्यान होतील बघता बघता

२) कोणता 'लोक' ? कसला 'विजय' ? तू विचाराला लावलंस
एका क्षणावर तुझी सत्ता, कसलं करतोस नियोजन ?
पिकावरच्या पाखरांसारखा, गोतावळा हा तुझा सारा

बघता बघता उडून जाईल, इंद्रियसुखांचा तरल पारा
ऐन वेळी कुठून आणशील, त्या दु:खांशी लढण्याचं बळ
फार पुढे जाण्याआधीच वेळेवरती मागे वळ

३) 'सहन करणं म्हणजे दुबळेपणा' – ठाम समज होता आमचा
'शीतोष्णीयांच्या' रूपानं दिलास नवा वसा कायमचा
हसून म्हणालास, 'जरूर भरा चाळणी पाण्यानं काठोकाठ'
बघा धावून इच्छांमागे, दुसऱ्या हजर पाठोपाठ.
विजोडांचे जोड जोडत, चालतो पुढे लावत ठिगळ
संधींचं स्वरूप समजावून, नेटकं केलंस जीवन ढगळ.
शीतोष्णीयांचा उपसंहार वेगळाच विचार मांडून केलास
'सत्यद्रष्ट्याला कसली उपाधी ?' रोखठोक सल्ला दिलास

४) 'सम्यक्त्वाचा' प्रासाद उभा अहिंसेच्या पायावर
संयम–मार्ग नाही सोपा, धैर्याची ती कसोटी खडतर
लोकैषणा सोडून दे, शरीर–मनाचे दमन कर
आगापीछा ठेवू नको, बोधीचा मार्ग दुरनुचर
त्याग, संन्यास नाही सोपा, या अध्ययनात बिंबवलंस
आम्हाला पुरतं कळून चुकलं, हे तर कुशलांचं दर्शन.

५) पहिलं म्हणजे आचारांगच, सर्व आगमांचं सार
त्यातलं पाचवं अध्ययन, शीर्षक त्याचं 'लोकसार'.
आमचं इच्छापूर्तीचं विश्व, फोलपटांनाच म्हणतो सत्त्व
तुमची भूमिका, दृष्टी वेगळी, तुम्ही शोधली त्यातून तत्त्व.

‘दृष्ट’ ‘श्रुत’ ‘मत’ शब्दातून जाणवला पुरेपूर आत्मविश्वास
परमात्मपदाच्या वर्णनात दिसले तुमच्या अनुभूतींचे निश्वास

६) ‘धुत’ अध्ययनातून दिलेस अवधूततत्त्वाचे निकष
कूर्म आणि वृक्षाचे दिलेस दृष्टांत आमच्यासाठी सकस
निर्लिप्तपणे जगणाऱ्यांसाठी ‘महावीर’ शब्द वापरलास
भयग्रस्तांना अभय देणारा तूच खरा महावीर ठरलास
कुटुंब-स्वजन-परित्याग साधूंसाठी पहिलं ‘धुत’
कर्म-परित्याग, भाव-मुंडन तू सांगितलंस दुसरं धुत
आधीच मोजकी उपकरणं, त्यांचाही क्रमाक्रमानं त्याग
शरीराच्या लघुतेलाही महत्त्व दिलंस तू खास
तितिक्षा, कषायांचं स्थान प्रत्येक अध्ययनात सांगितलंस
आचारपतित साधू-मुनींना कठोर शब्दात फटकारलंस

७) शरीर-जीवांच्या अलगतेचा विचार, ‘विमोक्ष’ अध्ययनाचं सार
मोक्षाचं वर्णन असेल म्हणून, वाचायला घेतलं उत्सुकतेनं फार
आठ उद्देशात पुन्हा एकदा आरंभ ते उपसंहार
विमोक्ष अध्ययनात दिसला, पंडितमरणाचा गंभीर विचार
आदरभाव-उपेक्षाभाव, केव्हा कुठं ठेवावा
वादाचा मुकाबला वादानं, कोणत्या वेळी करावा
धार्मिकता नसते गावात, अरण्यात, ती तर असते मनात
मौनाचं महत्त्व वेळोवेळी सांगितलंस ठेवायला ध्यानात
शरीर-कषायांची कृशता आणि पृथक्त्वाची भावना
तीनही प्रकारच्या मरणांनी होते आयुष्याची सार्थकता.

८) ‘उपधान-श्रुताचं’ स्थान, आमच्या लेखी ठरलं आगळं
‘जसे बोलले तसे वागले’ पुरेपूर ध्यानी आलं
तुझ्या शिष्यवरांनी लिहिली तुझ्या तपस्येची कहाणी
तुझ्या उपदेशाची अखेर यापेक्षा कोणती चांगली ठरती

शस्त्रपरिज्ञेतून उमगो आजूबाजूचे तीव्र भान
‘जितं मया’चा अहं दूर करो लोकविजयाचे तुझे गान
शीतोष्णीयामधून वाढो थोडी तरी सहनशक्ती
सम्यक्त्वातून साधो आम्हा मध्यस्थतेची थोडी युक्ती
तुच्छ काय, सार काय, लोकसारातून घ्यावा बोध
काय झटकणं जरूर आहे, याचा धुतवादातून शोध
मरणं कसं स्वीकारावं ? ठाऊक असू दे विमोक्षातून
उपधानातील तुझा आदर्श कधी न जावो स्मरणातून
सार ध्यानी ठेवू आणि विसरून जाऊ सारं कटू
नवीन-नवीन शिकण्यासाठी पुढच्या वर्षी नक्की भेटू.

◆◆◆

(२) आचारांगबोध

– मृणालिनी छाजेड

आचार और विचार शुद्धि से, होता कर्मों का क्षय,
ढालों अपने व्यवहार में, न सिर्फ आदर्श होय ।।१।।

साधना का मार्ग कठिन है, दुःख और परीषह से भरपूर,
सिद्धांतों का पालन करना, न होना कभी मजबूर ।।२।।

साधना की छैनी और सिद्धांत के हथोडे से बन जाओ स्वयं के शिल्पकार,
मितभाषी बनो तुम और हो जाओ अलिप्त और निर्विकार ।।३।।

स्वाध्याय के लिए निकालो समय जरासा, है ये ऐसी जलती मशाल,
नष्ट करेगी जो भौतिकता का घुप्प अंधेरा, और करेगी दृष्टि विशाल ।।४।।

तप से तुम रसना को जीतो और करो परिमित आहार पानी,
जिसने इस बात को जाना, कहलाता वो ज्ञानी ।।५।।

पाँच महाव्रत और पच्चीस भावना ही है जीवन का मूलाधार,
अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से ही होगा जीवन का सुधार ।।६।।

सिर्फ बटोरना ही आज के इंसान की है फितरत,
लेकिन देने का आनंद क्या है, दान देके जानोगे, जो बदलेगी तुम्हारी किस्मत ।।७।।

न हो जात पात का अंतर और वर्णों में कोई भेद,
कषायों को तुम दूर ही रखो, नहीं तो होगा मन को खेद ।।८।।

जाने कितनी राह मोक्ष की जाने कितने बंधन,
पंथवाद की पडी बेडियाँ, कैसे हो निर्बंधन ।।९।।

दया, प्रेम के दिव्य तत्त्व कब जगभर में पसरेंगे,

मन की गहन गुफाओं में कब आत्मदीप प्रकटेंगे ।।१०।।

पाप कर्म से कर लो विरति और पुण्य को अपनाओ,

अपनाकर समभाव हृदय में भव पार हो जाओ ।।११।।

संयम, सहनशीलता और समभाव को धारण किया था भ. महावीर ने,

और आत्मारूपी अनगढ पत्थर में छिपी परमात्मा की मूरत को

प्रगटाया था महावीर ने ।।१२।।

क्यों न हम भी करें अनुकरण उस पथ का,

जिसको अपनाया था महावीर ने,

होगी उनके जैसे चर्या और होगा सार्थक सीखना,

जो बतलाया आचारांग में ।।१३।।

◆◆◆

(३) काव्यातून भाषाजात

– ललिता ओसवाल

शब्द संभाल के बोल रे, शब्द को हाथ ना पाव रे ।
एक शब्द औषध करे, एक शब्द करे घाव रे ।।

जनमानसात आपले विचार, धर्म, संस्कार पोहोचविण्याचे मुख्य साधन आहे भाषा. ती संयमित, मर्यादित व विवेकपूर्ण असावी असे आचारांगास अपेक्षित आहे.

क्रोध-मान-माया-लोभ ह्याने मुक्त असावे वचन
निश्चयकारी व विनयाचे असावे प्रयोजन ।।
एकवचन-बहुवचन परोक्ष प्रत्यक्षाचे ठरवावे स्थान
सत्य-असत्य भाषेचे विसरू नये भान ।।
कर्कश निष्ठुर भाषेचे करू नये उच्चारण
हे कामवाली, ए नोकर, ए झाडुवाला, ए वेटर
अशा हलक्या शब्दांचा नका करू वापर
बिघडतात सारे व्यवहार, मनात होतो अनादर ।।
स्त्रियांना करावे आदराने संबोधन
'लंगडा', 'काळा', 'आंधळा' असे म्हणून होऊ नये क्रोधाचे कारण ।।
ज्ञानावरणीय कर्माचा क्षय म्हणून मिळाले भाषेचे वरदान
म्हणून शब्द वापरा अहिंसेचे किंवा मग पाळावे मौन ।।
बगीचातही वृक्षवेलींप्रती असू द्यावा दयाभाव
नुसत्या शब्दांनी सुद्धा जाणवतात त्या निष्पापांना घाव ।।

खरंच, भाषा हा मनामनांना जोडणारा दुवा आहे. साधू व श्रावक दोघांनीही आपसात व समाजात संयमित, आदरयुक्त भाषा मनापासून बोलावी. शेवटी म्हणावेसे वाटते की,

'मिट्ठो मिट्ठो बोल थारो काई बिगडे,

काई बिगडे थारो काई बिगडे ।।'

◆◆◆

(४) णत्थि कालस्स णागमो

– शकुंतला चोरडिया

१) आचारांगाचे दार उघडले,
प्रतिपादित तत्त्वांचे चिंतन केले,
'णत्थि कालस्स णागमो' एवढे भिडले,
सतत जागृत रहाण्याचे धडे गिरविले.

२) काळाचा भरवसा नाही,
तरुण, म्हातारा पहाणार नाही,
जसा जेथे असेल तसा उचलून घेईल,
होत्याचे नव्हते करून जाईल.

तरीही

३) पूजा, सन्मान, सत्कार, प्रतिष्ठचा चटका लागला,
वारेमाप स्थावर जीवांचा घात केला,
पण सर्वांच्या जयजयकाराने खुश झाला,
'णत्थि कालस्स णागमो' विसरला.

४) स्वजन परिवाराच्या मोहाने वेडा झाला,
रात्रंदिवस मेहनत करून पैसा मिळविला,
मानमरातब ऐश्वर्याने सुखावला,
'णत्थि कालस्स णागमो' विसरला.

५) इंद्रियविषयाच्या आधीन झाला,
अर्थ, अनर्थाचा रहाडा केला,
आत्मस्वरूपाचे भान हरपला,
‘णत्थि कालस्स णागमो’ विसरला.

६) पौष्टिक मालमसाले खाऊन धष्टपुष्ट बनला
इंद्रियांच्या तालावर वाटेल तसा नाचला,
प्रभु-भजनात कधी नाही रमला,
‘णत्थि कालस्स णागमो’ विसरला.

आता मात्र

७) दैव फिरले, हातातले आलेले निसटून गेले,
देवाने दिले दैवाने नेले म्हणून शोक केले,
ज्यांच्यासाठी धडपड केली त्यांनी मात्र तोंड फिरविले,
तेव्हा आठवले ‘णत्थि कालस्स णागमो’.

८) आधिव्याधींनी ठाण मांडले,
धष्टपुष्ट इंद्रियांचे बल घटले,
असहाय्य स्थितीत स्वकीय दूर झाले,
तेव्हा आठवले ‘णत्थि कालस्स णागमो’.

भगवंतांनी कानमंत्र दिला

९) मोहमायेच्या पसाऱ्यात रमू नकोस
इंद्रियसुखात हरवू नकोस,
अनमोल जीवनाचे मातेरे करून,
सुवर्णसंधी दवडू नकोस.

१०) आसक्तीची श्रृंखला भग्न कर,
निरासक्तीची कास धर,
जिनभगवंतांनी दाखविलेल्या,
मार्गाची वाट धर.

अंतरीची उघडली द्वारे, ताळ्यावर आले मन,
जे होते कावरेबावरे ।।

◆◆◆

(५) मला उमगलेले भाषाजात

– आशा कांकरिया

(पत्थावणा)

अंगाणं सारो आयारो । तस्स दो सुयक्खंधा । आयारस्स अद्धमागही भासा महुरा एवं परमअट्ठजुत्ता । बीए सुयक्खंधे समणायारो पहाणो । अस्सिं सुयक्खंधे पिंडेसणाइ सोलस अज्झयणा संति । इमंमि अज्झयणम्मि पिंडेसणा, इरिया, सेज्जा तहेव भासासंबंधिणो वियारा विसेसेण हवंति।

समणायारो पहाणो होऊण वि सावयाणं कए पइदिणं अभिक्खणं अभिक्खणं ववहारम्मि उवजुत्ता भासासंबंधिणो निद्देसा मया विसेसेण उवलक्खिया।

भाषेच्या माध्यमातूनच व्यक्त करता येतात अंत:करणातील भाव,

या विषयीचेच मार्गदर्शन, 'भाषाजात' त्याचे नाव...

मर्माघाती, कठोर, कर्कश, सावद्यानुमोदी, कषाययुक्त
कितीतरी भाषेचेच प्रकार
दैनंदिन जीवनातही बोलण्याचे
प्रसंग येतात वारंवार
पण प्रयत्नपूर्वक अशा भाषेचा, करायलाच हवा त्याग
तेच तर सांगते भाषाजात ।।१।।

शब्द हे शस्त्र आहे, जपूनच वापर करायला हवा
धनुष्यातून सुटलेल्या बाणाप्रमाणे ते मागे घेता येत नाहीत पुन्हा
भरूनही येतात तलवारीचे घाव
दुर्वचनाचे काटे मात्र करतात सरळ मनावरच घाव
मधुर, परिमित, परहितकारी असावी अशी वाणी
विवेकयुक्त वाणीची भाषेला जोड हवी ।।२।।

''जं उप्पलस्स पत्तेण छिज्जए किं सत्थमग्गेण
महुरम्मि भाणियव्वे किं ते कडुएण भणिएण''
शारीरिक व्यंग, जातिवाचक, प्राणिवाचक
एकेरी संबोधनाने नको बोलावण्याची प्रवृत्ति
आंधळ्यालाही सूरदास म्हणणे ही तर आपली संस्कृति ।।३।।

प्रभावी वक्तव्यासाठी शुद्ध भाषा यायलाच हवी
लिंग, वचन, विभक्ति व्याकरणासह शिकायलाच हवी

एक-बहु-अनेक-वचनावरून संस्कृतही यायला हवे
प्रवचन प्रभावनेने होईल सम्यक् दर्शनाचीच आराधना
यापेक्षा दुसरे काय हवे ।।४।।

नैसर्गिक घटनांचे दैवतीकरण म्हणजेच लोकमूढता
'हे शुभ', 'हे अशुभ', हवी कशाला मान्यता ?
जिनेश्वरांचा आदर्श समोर ठेवूनच
केले आहे भाषेविषयीचे मार्गदर्शन
निरवद्य वाणीविषयीचे तेच
मला उमगलेले भासाजायज्झयण ।।५।।

शुद्ध संस्कारित, मधुरवाणी, प्रयत्नपूर्वक बोलत राहिल्याने
संस्कारच होतात असे
प्रिय आणि हितकारक असेच शब्द
बाहेर पडतात जसे
अशा प्रकारच्या भाषाशुद्धीचे संस्कार
हृदयात दृढ होवोत
गोड बोलण्याचा संदेश घेऊन येणारी संक्रांत
आणखीच गोड होवो ।।६।।

◆ ◆ ◆

सूत्रकृतांग - विविध आयाम

(श्रुतस्कन्ध १ आणि २)

सूत्रकृतांग - प्रथम श्रुतस्कन्ध - पृ. ७९-१४२

सूत्रकृतांग - द्वितीय श्रुतस्कन्ध - पृ. १४५-२३२

सूत्रकृतांग – विविध आयाम
(श्रुतस्कन्ध १)
अनुक्रमणिका

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ क्र.
	१) सूत्रकृतांग प्रस्तावना		७९
	२) सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषयवस्तु		८१
	३) सूत्रकृतांग (१) : विद्यार्थियों के विचार–उन्मेष (प्रस्तावना और निबन्धसूचि)		८५
१)	अन्धविषयक दृष्टान्त	कुमुदिनी भंडारी	८८
२)	सूरं मण्णइ अप्पाणं	सुमतिलाल भंडारी	९१
३)	वादविवादसंगम	शकुंतला चोरडिया	९४
४)	आदानीय (काव्य)	आशा कांकरिया	९८
५)	जलसम्बन्धी विचार	मनीषा कुलकर्णी	१०१
६)	आदर्श अध्यापक	बालचन्द मालु	१०३
७)	नरक : वास्तव या संकल्पना	संगीता मुनोत	१०५
८)	क्या भगवन् आप भी !	ज्योत्स्ना मुथा	१०७
९)	सूत्रकृतांग का दार्शनिक विश्लेषण (श्रीमद् राजचन्द्र के अनुसार)	हंसा नहार	११०
१०)	उपसर्गपरिज्ञा में स्त्रीसंगविषयक दृष्टिकोण	अर्जुन निर्वाण	११५
११)	पानी की एक बूँद (काव्य)	चंदा समदडिया	११७
१२)	सूत्रकृतांगातील तीन शब्दांचे मूळ अर्थ (काव्य)	चंदा समदडिया	१२०
१३)	वीरत्थुई के अन्तरंग में	डॉ. नलिनी जोशी	१२४
१४)	समवसरण : एक परिशीलन	डॉ. नलिनी जोशी	१२८
१५)	सूत्रकृतांग में श्रुत–धर्म	डॉ. नलिनी जोशी	१३४
१६)	गुरुकुलवास एक आदर्श शिक्षा–प्रणाली	डॉ. नलिनी जोशी	१३८

.१.

सूत्रकृतांग - प्रस्तावना

आचारांग के बारे में पहले ही हम कह चुके हैं कि दृष्टिवाद के अंतर्गत होनेवाले चौदह पूर्वों के आधारपर भ. महावीर ने उपदेश दिये थे । ग्यारह गणधरों ने उन उपदेशों के आधार से आचारांग आदि ग्यारह अंगों की रचना की। द्वादशांगी में सूत्रकृतांग (सूयगड) का स्थान दूसरा है । इस आगम में जैन शास्त्रसम्मत मत तथा अन्य तत्त्ववेत्ताओं के मत दिए हुए हैं । साथ में ही साधुसाध्वियों के समुचित आचार भी दिए हैं । जैनविद्या के प्राय: सभी पौर्वात्य- पाश्चात्य अभ्यासकों ने सूत्रकृतांग के पहले श्रुतस्कंध को अर्धमागधी भाषा का 'प्राचीन नमूना' कहा है ।

सूत्रकृतांग पर भद्रबाहु की निर्युक्ति तथा जिनदासगणि महत्तर की चूर्णि उपलब्ध है । शीलांकाचार्य ने इस पर विवरण याने टीका लिखी है । शूब्रिंग ने सूत्रकृतांग के कतिपय चुने हुए अध्ययनों का जर्मन अनुवाद किया है । हर्मन याकोबी ने भी इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है ।

सूत्रकृतांग के पर्यायवाची नाम

निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने 'सूत्रकृतांग' के तीन नाम बताएँ हैं ।

१) **सूतगड - सूतकृत**

यह ग्रंथ मौलिक दृष्टि से भ. महावीर से 'सूत' (उत्पन्न) है तथा यह ग्रंथरूप में गणधर के द्वारा 'कृत' है, इसलिए इसका नाम 'सूतकृत' है ।

२) **सुत्तकड - सूत्रकृत**

इसमें सूत्र के अनुसार तत्त्वबोध किया जाता है, इसलिए इसका नाम 'सूत्रकृत' है ।

३) सूयगड – सूचाकृत

इसमें स्वसमय और परसमय की सूचना 'कृत' है इसलिए इसका नाम 'सूचाकृत' है । वस्तुतः 'सूत', 'सुत्त' और 'सूय' ये तीनों सूत्र के ही प्राकृत रूप है । सूत्रकृतांग और बौद्धों के सुत्तनिपात में नामसाम्य है ।

भ. महावीर के समय जिन जिन विचारवंतों ने विश्व के स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया था, उनके मतों का निर्देश यहाँ किया है । यहाँ उनको सांख्य, वेदान्त, चार्वाक आदि नामों से निर्दिष्ट नहीं किया है क्योंकि यह सब नाम उन्हें भ. महावीर के पश्चात् ही मिले । इन सब मतों को 'दार्शनिक' कहा है ।

सूत्रकृतांग की बाह्य रचना

प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कंध हैं । प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह और द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन हैं ।

प्रथम श्रुतस्कंध की रचना सुधर्मास्वामी की है । अतः इसका कालमान इसवीपूर्व पाँचवी शताब्दी होना चाहिए । द्वितीय श्रुतस्कंध के रचनाकार के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है । इसकी रचना ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के आसपास होनी चाहिए।

प्रथम श्रुतस्कंध में कुल सोलह अध्ययन हैं । एक से पाँच अध्ययनों के अनुक्रम से चार, तीन, चार, दो और दो उद्देशक हैं । आगे के छह से सोलह तक के अध्ययनों के उद्देशक नहीं हैं । सभी अध्ययनों की रचना पद्य में हैं ।

द्वितीय श्रुतस्कंध में कुल सात अध्ययन हैं । सभी अध्ययन गद्य में हैं ।

◆ ◆ ◆

.२.

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध की विषयवस्तु

	अध्ययन	उद्देशक	गाथा	विषय
१)	समय (समय)	४	८८	स्वसमय - परसमय का निरूपण। अर्थात् जैन तथा जैनेतर सिद्धांतों का प्रतिपादन ।
२)	वेयालिय (वैतालीय)	३	७६	सम्बोधि का उपदेश । वैतालीय छन्दविशेष में रचित गाथाएँ।
३)	उवसग्गपरिण्णा (उपसर्गपरिज्ञा)	४	८२	उपसर्ग सहन करने का उपदेश ।
४)	इत्थिपरिण्णा (स्त्रीपरिज्ञा)	२	५३	स्त्रीदोष का वर्जन। ब्रह्मचर्य साधना का उपदेश ।
५)	नरयविभत्ति (नरकविभक्ति)	२	५२	नरकवर्णन, नरकगति के कारण तथा निरसन के उपाय ।
६)	वीरत्थुई	-	२६	प्रधानता से भ. महावीर की स्तुति तथा प्रतीक (वीरस्तुति) रूप से सभी शलाकापुरुषों की स्तुति ।
७)	कुसीलपरिभासित (कुशीलपरिभाषित)	-	३०	विविध प्रकार के शीलभ्रष्ट मुनि तथा गृहस्थों का वर्णन ।

८)	वीरिय (वीर्य)	-	२७	बाल का सकर्मवीर्य और पण्डित का अकर्मवीर्य इनका प्रतिपादन।
९)	धम्म (धर्म)	-	३६	ऋजु और सत्य धर्म का कथन ।
१०)	समाही (समाधि)	-	२४	समाधि का अर्थ है समाधान, तुष्टि, अविरोध । द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की दृष्टि से प्रसन्नता तथा समाधान का वर्णन ।
११)	मग्ग (मार्ग)	-	३८	श्रेष्ठ मार्ग की गवेषणा तथा अहिंसा एवं समता का श्रेष्ठत्व । एषणा विषयक पापपुण्य विचार एवं सुध्यान ।
१२)	समोसरण (समवसरण)	-	२२	क्रिया-अक्रिया आदि चार वाद तथा कुछ अवांतर मान्यताओं की समालोचना तथा यथार्थ निश्चय।
१३)	आहत्तहीय (याथातथ्य)	-	२३	साधु के लिए यथार्थ धर्म तथा असाधु के लिए अयथार्थ धर्म का प्रतिपादन ।
१४)	गंथ (ग्रन्थ)	-	२७	'गंथं विहाय'पद से आरंभ तथा ब्रह्मचर्य याने गुरुकुलवास का समग्र वर्णन ।

१५)	जमईय (यमकीय)	– २५	प्रथम गाथा का अंतिम चरण तथा द्वितीय गाथा का प्रथम चरण, इनमें यमक अलंकार की योजना तथा आदानीय चारित्र का प्रतिपादन।
१६)	गाहा (गाथा)	– ६	गाथा या गाथाषोडशक नाम से प्रसिद्ध । तथापि छह परिच्छेदों में माहण, समण, भिक्खु तथा निग्गंथ शब्दों की परिभाषा ।

◆◆◆

.३.

सूत्रकृतांग (१) : विद्यार्थियों के विचार-उन्मेष

प्रस्तावना

अर्धमागधी आगमों का शैक्षणिक स्तर पर अध्ययन - यह सन्मति-तीर्थ संस्था की विशेषता है । जैन तत्त्वज्ञान एवं प्राकृत के अध्ययन से जिनकी बौद्धिक क्षमता तराशी गयी है ऐसे लगभग ७० जिज्ञासु व्यक्ति सन्मति के इस पाठ्यक्रम का लाभ उठाते हैं । पूरे साल भर सूत्रानुसारी एवं शब्दानुसारी अध्ययन करके कक्षा में कई सम्बन्धित विषयोंपर समीक्षा एवं चर्चा भी होती रहती है । वार्षिक परीक्षा में उस चर्चा में से कोई एक विषय चुनकर हर एक विद्यार्थी को एक एक शोधपरक लघुनिबन्ध लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है ।

आरम्भ में निबन्धलेखकों के नाम एवं उनके विषय दिये हैं । इससे मालूम होता है कि स्त्री-परिज्ञा एवं ग्रन्थ इन दो अध्ययनों पर आधारित निबन्धों की संख्या ज्यादा है । 'धर्म' और 'आदानीय' ये अध्ययन भी काफी विद्यार्थीप्रिय हैं। नरकविभक्ति अध्ययनपर आधारित परस्परविरोध दर्शानेवाले दो निबन्ध लिखे गये। एक विद्यार्थिनी ने अर्धमागधी भाषा में अध्ययन का सार देने का प्रयास किया। तीन-चार विद्यार्थियों ने कविता के माध्यम से अपने चिन्तन का अनूठा प्रस्तुतीकरण किया है । एक विद्यार्थिनीने स्वयं भगवान महावीर को ही पत्रद्वारा आमन्त्रित किया है । चयन किये हुए निबन्धों में से खास उल्लेखनीय निबन्ध हम यहाँ सम्पादकीय संस्कार के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

हम चाहते हैं कि हर एक जैनी इसे पढें और इस पर गौर करें !!!

●●●

सूत्रकृतांगपर आधारित लघुनिबन्धों की विषयसूचि

१)	स्त्रीपरिज्ञा : एक समीक्षा	बागमार चंद्रकला
२)	सूत्रकृतांग में कर्मसिद्धान्त का स्वरूप	बागमार लता
३)	जलशुद्धी आणि धर्म	बागमार स्मिता
४)	सूत्रकृतांगातील अंधविषयक दृष्टांत	भंडारी कुमुदिनी
५)	सूरं मण्णइ अप्पाणं-एक अनोखी गाथा	भंडारी सुमतिलाल
६)	सूत्रकृतांगातील षट्जीवनिकायरक्षा	भंडारी सरला
७)	सूत्रकृतांग में आयुष्य और बोधि का दुर्लभत्व	भंडारी सुविता
८)	'धर्म' अध्ययनातील पंचमहाव्रते	भटेवरा उज्ज्वला दि.
९)	आदानीय : एक समीक्षा	भटेवरा विमल सू.
१०)	'मार्ग' अध्ययनातील मार्गदर्श	भटेवरा विमल वि.
११)	नरक : वास्तव की संकल्पना	बोरा पुष्पा
१२)	'धर्म' अध्ययनाचे अंतरंग	बोथरा कमल
१३)	स्त्रीपरिज्ञा : एक नूतन समीक्षा	छाजेड भगवानदास
१४)	समवसरण	छाजेड मृणालिनी
१५)	समवसरण : खऱ्या अर्थाने स्वसमय-परसमय	छाजेड रेखा
१६)	आधुनिकता का अर्थ : अपनी पहचान	डॉ. मंजु चोपडा
१७)	वादविवादसंगम : एक समीक्षा	चोरडिया शकुंतला
१८)	'ग्रंथ' अध्ययनातील आदर्श शिक्षक	डागलिया लता
१९)	कुशील परिभाषा - गाथासमीक्षा	देसडला साधना
२०)	स्त्रीपरिज्ञा आणि सद्य:स्थिती	धोका अनीता

२१) स्त्रीपरिज्ञा : एक समीक्षा	धुमावत प्रेमा
२२) आदानीय अध्ययन : प्राकृत सारांश	कांकरिया आशा
२३) सूत्रकृतांगाची पर्यायवाची नावे	कांकरिया निर्मला
२४) सूत्रकृतांगातील सुभाषिते	कर्नावट कमल
२५) सूत्रकृतांगातील षट्जीवनिकायरक्षा	कटारिया संगीता
२६) सूत्रकृतांग : दर्शनप्रधान या आचारप्रधान	खणसे पारमिता
२७) उदगेण जे सिद्धिं उदाहरंति : तौलनिक समीक्षा	कुलकर्णी मनीषा
२८) 'वीर्य' अध्ययन से होनेवाला सामान्य बोध	ललवाणी प्रतिभा
२९) 'वैतालीय' अध्ययनातील मुनींची सहिष्णुता	लोढा मदन
३०) सूत्रकृतांग का सार	लोढा शोभा
३१) सूत्रकृतांग की षड्द्रव्य-नवतत्त्व दृष्टि से समीक्षा	लुंकड कमल
३२) 'ग्रंथ' अध्ययन में आदर्श अध्यापक	मालु बालचंद
३३) नरक : एक वास्तव अथवा संकल्पना	मुनोत संगीता
३४) सूरं मण्णइ अप्पाणं : गाथासमीक्षा	मुनोत सविता
३५) Ideal Teacher according to 'Grantha'	मुथा अनीता
३६) स्त्रीपरिज्ञा : एक प्रतिक्रिया-क्या भगवन् आप भी !	मुथा ज्योत्स्ना
३७) कुशील अध्ययनातील पार्श्वस्थ	मुथा कल्पना
३८) सूत्रकृतांग का दार्शनिक विश्लेषण - श्रीमद् राजचंद्र के अनुसार	नहार हंसा
३९) 'धर्म' अध्ययनातील पंचमहाव्रते - गीता, धम्मपद व पातञ्जलयोगाच्या तुलनेत	नहाटा संगीता

४०)	‘ग्रंथ’ अध्ययनातील गुरुमहिमा	नवलाखा आरती
४१)	उपसर्गपरिज्ञा में पार्श्वस्थों का स्त्रीसंगविषयक दृष्टिकोण	निर्वाण अर्जुन
४२)	‘ग्रंथ’ अध्ययनातील आदर्श शिक्षक	ओसवाल छाया
४३)	सूत्रकृतांगाच्या निमित्ताने भगवान महावीरांना पत्ररूपाने आमंत्रण	ओसवाल ललिता
४४)	‘आदान’ अध्ययन के पाँच संक्षिप्त सुभाषित	पारख सुरेखा
४५)	‘वैतालीय’ अध्ययन में वर्णित मुनि की सहिष्णुता	पारख विजय
४६)	उदगेण जे सिद्धिं उदाहरंति: काव्यद्वारा सादरीकरण	समदडिया चंदा
४७)	‘ग्रंथ’ अध्ययनातील विभज्यवाद	संचेती लीना
४८)	‘वीर्य’ अध्ययन : एक समीक्षा	शहा जयबाला
४९)	सूत्रकृतांग में प्रयुक्त उपमाएँ	शेठिया राजश्री
५०)	काँटों में गुलाब	शिंगवी पुष्पा
५१)	उपसर्गपरिज्ञा	शिंगवी रंजना
५२)	संबुज्झह ! किं न बुज्झह ?	शिंगवी विनोदिनी
५३)	आदर्श शिक्षक कैसे बनें ?	श्रीश्रीमाळ ब्रिजबाला
५४)	‘ग्रंथ’ अध्ययन आणि आदर्श शिक्षक	सुराणा सीमा
५५)	‘आदान’ अध्ययनातील पाच सुभाषिते	भन्साळी संतोष

●●●

(१) सूत्रकृतांग में अन्धविषयक दृष्टान्त

– कुमुदिनी भंडारी

सूत्रकृतांग में हमें चार जगहों पर अन्ध के दृष्टान्त दिखायी देते हैं ।

१) जैसे अन्धव्यक्ति दूसरे अन्ध को मार्ग में ले जाता हुआ उन्मार्ग में पहुँच जाता है वैसे अज्ञानवादी असंयम का अंगीकार करके मोक्षमार्ग से भटक जाते हैं ।

२) जैसे कोई अन्धव्यक्ति छेदवाली नौका पर आरूढ होकर, नदी पार करना चाहता है परन्तु बीच में ही डूब जाता है वैसे मिथ्यात्वी अनार्य श्रमण संसार पार करना चाहता है परन्तु पार नहीं करता ।

३) अन्धे के समान है ज्ञानचक्षुहीन अज्ञानी जीव ! तू, सर्वज्ञ के वचनों पर श्रद्धा रख !

४) जैसा नेत्रहीन व्यक्ति हाथ में दीपक होते हुए भी, इधर-उधर की चीजों का रंग-रूप नहीं देख पाता वैसे अक्रियावादी लोग, कर्म के परिणाम देखते हुए भी, उन्हें देखते नहीं ।

इन सभी दृष्टान्तों में अन्धव्यक्ति की तुलना मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और ज्ञानचक्षुहीन लोगों के साथ की गयी है ।

ज्ञानप्राप्ति में आँखों का सहभाग जरूरी है, इसमें कोई शक नहीं है। लेकिन क्या सभी अन्ध मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी होते हैं ? जैन धर्मेतिहास में अन्धव्यक्ति के दीक्षित होने का एक भी उदाहरण नहीं पाया जाता । किसी भी तरह की इन्द्रिय-विकलता, व्यक्ति को दीक्षा के अयोग्य ही मानी गयी है । दीक्षा के बाद अगर ऐसा कुछ प्रसंग आता है, तो उन्हें

दीक्षा छोडनी नहीं पडती । लेकिन अव्यंगव्यक्ति ही दीक्षा का अधिकारी होता है । इस सम्बन्ध में यह विचार उभरकर आता है कि अन्धव्यक्ति अगर पूरी तरह वैराग्य-सम्पन्न हो, तो उसका लिहाज जैनधर्म ने क्यों नहीं किया है ? अन्धव्यक्ति के वैराग्य का कोई भी मायने नहीं है ? वैसे भी साधु-साध्वी संघ में ही रहते हैं । संघ के आचार में वैयावृत्य का प्रावधान भी है । अगर एखाद व्यक्ति अन्ध हो तो उसकी संघ में सहजता से सेवा भी की जा सकती है ।

इन प्रश्नों पर जब विचारमन्थन शुरू होता है तो सामने आता है, समाज का प्रभाव । आज भी और सूत्रकृतांग के समय भी अन्धलोगों के प्रति समाज का दृष्टिकोण अनुदार ही रहा है । उन्हें गौण समझते हैं और समझते थे ।

किसी भी धर्म-सम्प्रदाय की पूजनीय व्यक्ति हमें अन्ध या अपंग नहीं दिखायी देती । इसकी कारणमीमांसा हम इस प्रकार कर सकते हैं -

१) अपंग व्यक्ति सामान्य गतिविधियाँ सुचारु रूप से नहीं कर सकती । उसका अहिंसापालन ठीक से नहीं हो पाता । अहिंसा तो धर्म का मूल है। उसपर आघात हो सकता है ।

२) साधुसाध्वी आदर्शभूत हैं । किसी विकलांग को हम आदर्श रूप में सोच भी नहीं सकते ।

३) अगर एक विरागी अन्ध को दीक्षा दी तो शायद इतर अन्धव्यक्ति वैराग्य न होते हुए भी केवल चरितार्थ के लिए दीक्षा ले सकते हैं ।

४) अन्धव्यक्ति के बारे में लोग कह सकते हैं कि, ‘यह तो खुद अन्धा है । यह हमें क्या रास्ता दिखायेगा ?’

५) विहार या गोचरी के समय बहुत से लोगों का वह उपहासपात्र या दयापात्र हो सकता है ।

६) जब देवताप्रीत्यर्थ बलिविधान किया जाता है तब बलि का पशु भी सुलक्षणी और अव्यंग होता है । साधु तो आदर्शभूत है । वह सभी दृष्टि से अव्यंग होने की ही अपेक्षा की जाती है ।

जैन सिद्धान्तों की अगर बात करें तो अनेकान्तवाद समझाने के लिए भी हाथी और सात अन्धों का दृष्टान्त किया जाता है ।

◆◆◆

(२) सूरं मण्णइ अप्पाणं – एक अनोखी गाथा

– सुमतिलाल भंडारी

'नामदेव म्हणे श्रेष्ठ ग्रंथ ज्ञानेश्वरी, एक तरी ओवी अनुभवावी', हा अभंग ऐकला व मला तशाच एका श्रेष्ठ ग्रंथाची – सूत्रकृतांगाची आठवण झाली. त्यातली एक तरी गाथा स्वत: अनुभवावी असे प्रकर्षाने वाटू लागले. विचार करता करता, 'सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सति ।' ही गाथा डोळ्यासमोर आली. मी ती गुणगुणू लागलो, अन् थोड्याच वेळात एका वेगळ्याच भावविश्वात पोहोचलो. विचार करता करता, मला त्या गाथेत, अर्थांची अनेक वलये दिसू लागली. संतवचनातील तेजाचा साक्षात्कार होऊ लागला व माझी समाधी लागली.

त्या अवस्थेत मी पाहिले की, मी भगवान महावीरांच्या धर्मसभेत जाऊन बसलो आहे. तेथे अनेक नवदीक्षित साधू बसले आहेत. प्रवचन चालू आहे. विषय अर्थातच 'सूरं मण्णइ अप्पाणं' हाच होता. महावीर सांगत होते की, 'जोपर्यंत अडचणी येत नाहीत, तोपर्यंत भित्री माणसे स्वत:ला शूर समजतात. सर्व जग आपल्या मुठीत आहे, या संभ्रमात वावरतात. इतरांना तुच्छ लेखतात. पण तसे नसते. माणसाची खरी कसोटी लागते ती अडचणी समोर उभ्या ठाकल्यावरच. हे श्रमणांनो, तुम्ही दीक्षा घेतलीत, साधु-जीवनाला आरंभ केलात, आता तुम्हाला अनेक परीषह, अनेक उपसर्ग सहन करावे लागतील. अनेक अडचणींना तोंड द्यावे लागेल. त्याची तयारी ठेवा. स्वत:ला आताच आत्मसंयमी मानून गाफील राहू नका.'

मला माहीत होते की महावीर, समोरचे श्रोते पाहून, त्यांच्या त्यांच्या बौद्धिक क्षमतेनुसार प्रवचन देतात. त्यांच्या भाषेत बोलतात, मनात विचार

आला, पाहू या, इतरांना काय सांगतात ते. मी मग महावीरांच्या दुसऱ्या धर्मसभेत पोहोचलो. तेथे शास्त्रे पठण केलेली विद्वान, पंडित मंडळी उपस्थित होती. प्रवचनाचा विषय 'सूरं मण्णइ अप्पाणं' हाच होता. महावीर सांगत होते, 'हे विद्वान जनहो, ही गाथा लक्षपूर्वक ऐका. तुम्ही शास्त्राचे जाणकार आहात. तुम्ही सर्वांनी भरपूर अध्ययन केले आहे. पण तुम्ही केलेल्या या अध्ययनाने हुरळून जाऊ नका. इतरांना तुच्छ लेखू नका. कारण तुम्ही केलेले अध्ययन म्हणजे समुद्रातील एक थेंब आहे. तुम्हाला अजून बरेच अध्ययन करायचे आहे. अनेक शंकांचे निरसन करून घ्यायचे आहे. हे लक्षात असू द्या.'

महावीरांच्या तिसऱ्या धर्मसभेत, लोहार, कुंभार, शिंपी, श्रीमंत श्रेष्ठी इ. सामान्य लोकांना महावीर सांगत होते की, 'हे सज्जनांनो, तुमचे सगळे आयुष्य सुखाचे व समाधानाचे चालले आहे. काही लोक तर सोन्याचा चमचा तोंडात घेऊन जन्माला आले आहेत. हे तुमच्या पूर्वसंचिताचे फळ आहे. यात तुमचा पुरुषार्थ तो कसला ? तेव्हा बढाया मारू नका. दुसऱ्याला कमी लेखू नका आणि कसोटीचे क्षण आले तर त्याला तोंड द्या.'

ही प्रवचने ऐकली व एक वेगळीच शंका मनात आली. वास्तविक पाहता, स्वतःला शूर समजणे हे आत्मविश्वासाचे प्रतीक आहे. तसेच तो पुरुषार्थाचा पायाही आहे. असे असताना, भित्री माणसेच फक्त स्वतःला शूर समजतात, हे कसे ? आणि सर्वांनी काय सदैव स्वतःला कमीच लेखत रहावे ? महावीर असे कसे सांगू शकतात ? मला ज्ञानेश्वरीतील एक ओवी आठवली,

राजहंसाचे चालणे । भूतळी जालिया शाहाणें ।

आणिकें काय कोणें । चालावेंचि ना ।। १८-१७१४

समस्त भूतलावर राजहंसाचे चालणे डौलदार आणि सुंदर आहे. म्हणून काय इतरांनी चालूच नये ?

मनात हा विचार आला आणि अस्वस्थ झालो. तसाच तडक महावीरांच्या धर्मसभेत जाऊन बसलो. सभा संपल्यावर महावीरांना मनातली शंका विचारली. महावीर हसले व म्हणाले, 'हे भद्र, तुझ्या मनातली शंका रास्त आहे. पण माझ्या गाथेचा व माझ्या म्हणण्याचा तो अन्वयार्थ नव्हता. मला सर्वांना एवढेच सांगायचे होते की, सुरळीत आयुष्य जगणारी डरपोक माणसेच स्वत:ला शूर समजतात व शेखी मिरवितात. पण एकदा का अडचणी आल्या की ती विचलित होतात. आपल्या ध्येयापासून, कर्तव्यापासून पळ काढायचा प्रयत्न करतात. तेव्हा तसे करू नका. या गाथेतला 'सूरं' हा शब्द 'अहं' भावनेचे प्रतीक आहे. त्याला अंगिकारू नका. इतरांना तुच्छ लेखू नका. मोहावर विजय मिळविणे हे एक आव्हान असते. ते स्वीकारा. अडचणींचा सामना करा. त्यात तुमचे शूरत्व आहे. त्यात तुमचा पुरुषार्थ आहे. ध्येयाच्या शिखराकडे लक्ष असू द्या. छोट्या-मोठ्या यशावर समाधान मानू नका आणि हे सर्व करता करता, परमात्म्याशी एकरूप होण्याचा प्रयत्न करा. ते तादात्म्यच तुमच्या प्रगतीला पूरक ठरेल.'

महावीरांचे हे बोलणे ऐकले व मनातली खळबळ नाहीशी झाली. त्यांच्या शब्दाशब्दांतून व्यक्त होणारी तळमळ, लोकांच्या कल्याणाची काळजी पाहून त्यांच्याविषयीचा आदर दुणावला. शांत व तृप्त मनाने मी घराकडे वळलो.

◆ ◆ ◆

(३) वादविवाद-संगम : एक समीक्षा

- शकुंतला चोरडिया

स्वसमय-परसमय या जीवनाच्या दोन मुख्य सिद्धांतांवर सूत्रकृतांगाची रचना झाली. लोकांची मती, नीती, प्रवृत्ती बघून भगवंतांनी तत्त्वांची विखुरणी केली. विचारांच्या झऱ्यात प्रवाहित होऊन चिंतनाच्या खळखळाटाने मनाची दारे उघडली. समवसरणाच्या नव्या अर्थाची गवसणी झाली आणि ३६३ पाखंडींची मते नोंदविली गेली. वादविवाद सभा रंगत गेली. वेगवेगळ्या वादींचे विचार ऐकण्याची संधी मिळाली. वादविवाद संगमाच्या सभेची समालोचना करून यथार्थाची मात्र दृष्टी मिळाली.

इहलोक, परलोक कोणी पाहिले, प्राप्त वर्तमान स्थितीत मनसोक्त रमले,
पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, सदाचार-दुराचाराच्या व्याख्याच विसरले,
पंचमहाभूतांनी वेष्टित अशी चेतना गेल्यावर, आत्माराम मातीतच विरले,
अशी भ्रांती ठेवणारे बृहस्पतीमतानुयायी चार्वाक अज्ञानवादीत गणले गेले.

एकाच आत्म्याने भिन्न-भिन्न रूप धारण केले,
मती सुधारली त्याने पुण्य केले, मती बिघडली त्याने पाप केले,
सुख-दुःखाचे मूल्यमापन तुमच्या कर्तृत्वावर गेले,
केवळ आत्मा हेच अंतिम सत्य मानले आणि पुद्गलांना गौण केले, ते आत्मद्वैतवादी एकात्मवादी ठरले.

पंच महाभूतांचा समुदाय म्हणजे शरीर त्यात आत्म्याचे अवतरण झाले,
प्रत्येक शरीराचा आत्मा वेगळा, म्हणून ज्ञान अज्ञानाचे गट झाले,

शरीराबरोबर आत्म्याचे विघटन झाले, नित्य असे काहीच नाही उरले,
शरीर आणि आत्मा वेगवेगळे आहे, हे न समजल्यामुळे
तज्जीवतच्छरीरवादी बनले.

आत्म्याचे अस्तित्व स्वीकारले, पण आत्म्याचे कर्तृत्व-भोक्तृत्व नाकारले,
अज्ञानाच्या वाटेने निघाले अन्, असत्याच्या अंधारात फसले,
काय करावे, काय करू नये, हे न सुचल्यामुळे सारे ईश्वरीसत्तेवर सोडले,
कर्मबंधाच्या भयाने क्रियांचेच निषेध केले,
ते अकारक-अक्रियावादी ठरले.

रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्काराला

क्षणमात्र स्थिर रहाणारे स्कंध मानले,
पृथ्वी, पाणी, तेज, वायु आदि धातूंनी,
शरीरात परिणत होणाऱ्याला जीव समजले,
दु:खातून मुक्त करणाऱ्या यतिधर्माला कधी न जाणले,
जन्म-मरणाच्या चक्रात फिरतच राहिले,
आत्म्याची सत्ता नाहीच असे मानणारे, अफलवादी,
धातुवादी, क्षणिकवादी ठरले.

पाच महाभूतांबरोबर सहावा आत्मा आणि लोक मानले,
ईश्वरी सत्ता नाही, सुख-दु:ख न स्वयंकृत, न अन्यकृत,
जे घडले ते सारे नियतीनेच घडले,
जे असत् ते कधीच उत्पन्न न झाले, जे सत् आहे तेच नित्य राहिले,

आत्मा सहेतुक-अहेतुक दोन्ही प्रकाराने नाश पावत नाही,
असे सांगणारे नित्यवादी, नियतिवादी ठरले.
कर्म परिणामाची चिकित्सा न करता कर्मकांड अनुष्ठानाला महत्त्व दिले,
कर्म बंधनाची तीन कारणे, कृत-कारित अनुमोदन मानले,
भावाच्या विशुद्धीने कर्म तुटले, कर्मबंध नसल्याने मोक्षगामी झाले,
ज्ञानाचा निषेध करून क्रियेनेच स्वर्ग-मोक्ष मानणारे क्रियावादी बनले.

समीक्षा

साऱ्या वादींचे मत जाणून भगवंतांनी सूक्ष्म समीक्षा केली आणि सरळ, सोप्या भाषेत दृष्टांत देऊन गहन अर्थाची शिदोरी दिली.

१) अंधाच्या हातात दिवा दिला तर तो अंधाराशिवाय काय पहाणार ? तसेच अज्ञानाच्या अंधाराने घेरलेल्याला ज्ञानाची वाट कशी दिसणार ?

२) बंधन आणि मुक्तीचे ज्ञान नसलेला मूर्ख हरीण जेथे नको तेथे अडकतो आणि दु:खाला आमंत्रण देतो. तसेच दहा प्रकारच्या धर्माला न जाणणारा, क्रोध, मान, माया, लोभ आणि कषायाच्या फाफट पसाऱ्यात अडकून दु:खाला ओढून घेतो.

३) आंधळ्याच्या मागे आंधळा चालत राहिला तर इच्छित स्थानावर कधी पोहोचणार तसेच अधर्माच्या रस्त्याने जाणारा मोक्षाला कधी गाठणार ?

४) पिंजऱ्यातला पक्षी पिंजराच सोडत नाही तसे अज्ञानी आपल्या मिथ्यामान्यतेची कासच सोडत नाही आणि संसारातून मुक्त होण्याचा मार्गही पहात नाही.

५) जन्मांध मनुष्य छिद्र पडलेल्या नौकेत बसून नदी पर करण्याची इच्छा करतो परंतु मध्येच नौकेत पाणी भरल्याने डुबतो तसेच मिथ्यादृष्टी अनार्य

श्रमण मिथ्या क्रियाकांडात अडकतो. संसारसागरातून पार होण्याऐवजी संसारातच डुबतो.

भगवंत म्हणतात –

हे साधका ! पाच समितींचे पालन कर. तीन गुप्तींचे रक्षण कर. सर्व पदार्थांची आसक्ती सोडून करीत असलेल्या क्रियाकांडाचा विचार कर. ज्ञान, दर्शन, चारित्राचा आराधक होऊन ग्रहण केलेल्या संयमात सम्यक्प्रकारे प्रवृत्ती कर आणि पुरुषार्थाने कर्मबंधनाचे पाश तोडून सिद्धश्रीची माळा धारण कर.

◆◆◆

(४) आदानीय अध्ययन

– आशा कांकरिया

त्रायिन् , त्रिकालविद् ,
तिन्नं आणि तारयाणं,
हे तर घाती कर्मांचा क्षय करणाऱ्या,
अरिहंतांचे विशेषण ।।

चित्त विप्लुतीच्याही पलिकडले,
असे आहे ज्यांचे केवलज्ञान,
अनुभूत सिद्ध अनुपम तत्त्वांचे,
करतात जे आख्यान ।।

सत्याने संपन्न, यथार्थ अशा,
ज्ञानाचे होते प्रकटीकरण,
अध्यात्म व आत्ममयता,
हेच त्याचे खरे कारण ।।

इथे तिथे कुठेही भेटणार नाहीत
असे महान उदाहरण,
म्हणून तर त्यांचे,
करायलाच हवे अनुसरण ।।

सर्व भूतमात्रांशी मैत्रीभावना,
हा तर ऋषींचा धर्म,
या जीवित भावनेतच,
दडले आहे सत्य (मैत्री) धर्माचे मर्म ।।

भावना योगानेच समस्त कर्मांचा,
अंत येतो साधता,
अनुकूल वाऱ्याच्या संयोगाने नावेलाही,
सहजपणे तीर येतो गाठता ।।

पूर्वसंचित कर्मांचा क्षय,
आणि नवीन कर्मांचे नाही बंधन,
अशा मेधावी लोकांना,
पुन्हा नाही जन्म आणि मरण ।।

सिद्धस्वरूप अस्तित्वाला,
कधीच धोका नाही संभवत,
आजही अखंडपणे वाहत आहे,
त्यांची ज्ञानधारा अविरत ।।

असे द्रष्टा लोकच होतात,
कामवासनेचे पारगामी,
सूक्ष्म जाळे ओलांडून जाणाऱ्या वाऱ्यापेक्षा,
कोणती बरे उपमा द्यावी !

अनाविल, छिन्नस्रोत दमनशील साधु,
अन्नामध्ये गृद्ध नसतो,
म्हणून तर तो मोक्षाशी,
संधान जोडू शकतो ।।

मन–वचन–कायेचा योग,
ज्याला साधता येतो,
तोच ज्ञानाराधनेमुळे सर्वांचा,
चक्षुष्मान ठरतो ।।

प्रतिपूर्ण धर्मांची प्ररूपणा,
व आचरणानेच होतात कर्मांचे अकर्ता,
अशा वीतरागी महापुरुषांना,
पुन्हा कसली हो जन्मकथा ।।

पंडितवीर्याने युक्त असे पुरुष,
'महावीर'च असतात,
पूर्वसंचित कर्मक्षयाने,
शुद्ध आत्मस्वरूप प्राप्त करतात ।।

एकाहून एक सुंदर, उपादेय,
विचारांची आहे यात गुंफण,
काव्यालंकाराने युक्त यमकबद्ध,
असे हे आदानीय अध्ययन ।।

◆◆◆

(५) जलसम्बन्धी विचार
(वैदिक और जैन संदर्भ में)

– मनीषा कुलकर्णी

वैदिकों के वैष्णव और शैव इन पन्थों में यह दृढ मान्यता है कि पानी से बाह्य परिसर, शरीर एवं मन की शुद्धि होती है । गणपति–पूजन के पहले पूजास्थल, पूजासाधन आदि की शुद्धि पानी–प्रोक्षण के द्वारा करते हैं । उसके लिए यह मन्त्र प्रयुक्त होता है –

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा ।
यद् स्मरेत् पुंडरिकाक्षं सबाह्याभ्यंतरः शुचिः ।।

इसके बाद वरुणपूजा एवं कलशपूजा करते हैं । इसमें वैदिकादि कहते हैं कि–

।। वरुणाय नमः ।। कलशाय नमः ।।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

वरुणपूजा लगभग सभी धार्मिक विधियों में करने का विधान है । वेदों के अनुसार वरुणदेवता ऋतसम्बन्धी एवं जलसम्बन्धी देवता है । वरुण के आधार से सब जगत् टिका है । वैष्णव लोग विहार करते समय हमेशा कमंडलु का पानी डाल के भूमिशुद्धि करते हैं । वैष्णव लोग सीधा पानी डालते हैं तो शैव लोग समांतर पानी डालते   हैं । अस्तु !

जैनशास्त्र के अनुसार पानी यह जड पंचमहाभूत नहीं है । पानी के शरीरवाले जीवों को वे अप्कायिक जीव कहते हैं । उपरोक्त रूढियों का कठोर खंडन जैनग्रन्थों में पाया जाता है । 'उदगेण जे सिद्धिं उदाहरंति'– यह गाथा

सूत्रकृतांग (१) के सातवें अध्ययन की चौदहवीं गाथा है । उसमें कहा है कि, 'पानी छिडकने से अगर सिद्धि या लब्धि प्राप्त होती तो मछलियाँ आदि जलचर जीव पूरी उम्रभर पानी में होने के कारण कब के मोक्षगामी हुए होते ।'

जैन कहते हैं कि रूढ मान्यताओं को छोडकर तर्काधिष्ठित रहो । बुद्धि से सब की जाँच, विवेक करों और सिद्धशिलातक पहुँचों ।

वैदिक, वैष्णव आदि सब आचमन, संकल्प, स्नान, त्रिकालसन्ध्या आदि में पानी का उपयोग काफी मात्रा में करते हैं । पूजा समाप्ति में वे कहते हैं कि-

अकालमृत्युहरणम् सर्वव्याधिविनाशनम्
विष्णु/शिव पादोदकं तीर्थं जठरे धारयाम्यहम् ।।

नदीस्नान या समुद्रस्नान की बात तो दूर ही है, जैनियों के साधुआचार में अस्नानव्रत को ही सर्वाधिक स्थान दिया है । तालाब, सरोवर, नदी, समुद्र आदि से सम्बन्धित सामाजिक उत्सवों का भी जैनियों में प्रचलन नहीं है । सूत्रकृतांग आगम में स्नानद्वारा शुद्धि की मान्यता को करारा जवाब दिया है । शरीर शुद्धि के बदले चित्तशुद्धि का महत्त्व खास तौरपर बताया है । जल का अपव्यय करने को प्राणातिपात याने हिंसा ही समझा है ।

◆ ◆ ◆

(६) 'ग्रन्थ' अध्ययन में आदर्श अध्यापक

– बालचन्द मालु

'सूत्रकृतांग' इस आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन हैं । उसका चौदहवाँ अध्ययन 'ग्रन्थ' है ।

प्राचीन समय में नवदीक्षित साधु को सभी परिग्रहों को तोडकर 'गुरुकुल' में रखा जाता था । उसे आचार्यद्वारा सभी शिक्षाएँ मिलती थी । वह स्वावलम्बन से, संयम से अनुशासन में रहकर ब्रह्मचर्य पालन करता था । ऐसा शिष्य 'ग्रन्थी' कहलाता है । धर्म और आगमज्ञान परिपक्व होनेतक आचार्य उसका दुष्प्रवृत्ति से संरक्षण करते थे । गुरु के सान्निध्य से शिष्य का आचरण ओजस्वी और सम्यक्त्वी बनता था ।

प्रतिभासम्पन्न शिष्य बनवाने के लिए गुरु को भी अनुशासन पालना पडता था । 'ग्रन्थ' अध्ययन के मार्गदर्शन से 'आदर्श अध्यापक' बनवाने के लिए नीचे बताये हुए कुछ विशेष गुणों की जरूरत होती है ।

सबसे पहले अध्यापक को मूलत: प्रज्ञावान और समझदार होना जरूरी है। अपने विषय में प्रवीण होने के कारण ही वह सूरज के समान चारों ओर से प्रकाशित करने जैसा ज्ञान दे सकता है । अध्ययन-अध्यापन प्रक्रिया सजीव होती है । इसलिए अध्यापक को द्वेषभाव टालकर परस्परों में प्रेमभाव का संवर्धन करना होगा । किसी भी छोटी सी शंका का पूर्णता से समाधान करने की कला याने शिक्षक का शैक्षणिक मानसशास्त्र और शिक्षणशास्त्र उत्तम होना जरूरी है । सभी शंकाओं का समाधान करते समय किसी भी अर्थ का अनर्थ न करे या होनेवाले अहंकार से हमेशा दूर रहें ।

शंका-समाधान मृदुभाव से होगा तो किसी का भी तिरस्कार नहीं होगा।

अखण्ड झरने जैसा निर्मल ज्ञान मधुर

वाणी से मार्गदर्शन देने के लिए अध्यापक निरन्तर अभ्यास करनेवालाही होना चाहिए । प्रत्येक वस्तु 'अनेक धर्मी' होती है । इसलिए कोई भी अर्थ स्पष्ट करते समय 'स्याद्वाद' से प्रत्येक विधान की सत्यता सामने लाए । सत्य हमेशा कडवा और कठोर होता है । इसलिए समझदारी से स्वयं की प्रशंसा टालकर, कषाय न बढाते सत्य विधान करें । बोलते समय संदिग्ध या अधूरा न बोले लेकिन विभज्जवाद से सत्य और तथ्य स्पष्ट करें । अनेकान्तवाद से किसी भी सूत्र की समीक्षा करें और निन्दा टालें । किसी भी प्रश्न का उत्तर मर्यादित हो, उसे अनावश्यक बढाना ठीक नहीं अन्यथा स्वयं के और दूसरों के पापविकारों की ओर ध्यान देना होगा ।

नया संशोधित ज्ञान निरन्तर प्राप्त करके, चिन्तन करने से समय का सदुपयोग होगा और दूसरे की मर्यादा सम्भाली जाएगी । वक्तृत्व का सम्यक् व्यवस्थापन करनेवाला कभी भी संकुचित विचार प्रस्तुत नहीं करता और दूषित दृष्टि नहीं रखता । इसी कारण सूत्र और अर्थ में सुसंगति लाना जरूरी है । अध्यापक के वाणी में सागर के संथ लहर जैसी सरलता और प्रमाणबद्धता आवश्यक है ।

सद्य:स्थिति में अगर कोई अध्यापक इस अध्ययन में निहित तथ्योंपर विचार एवं अमल करेगा तो वह जरूर आदर्श अध्यापक बनेगा ।

◆◆◆

(७) नरक : एक वास्तव अथवा संकल्पना ?

– संगीता मुनोत

जितना गहन तिमिर अमावस में होगा, उतनी सुबह उजाली होगी,
जितनी सन्देह में विरानी, उतनी विश्वास में हरियाली होगी ।
स्वर्ग–नरक है सत्य, नहीं इसमें सन्देह कहीं,
प्रभुवाणी तो त्रिकाल में, सत्य सत्य सत्यही होगी ।

विश्व के सभी धर्म जिस विषयपर एकमत हैं, वह है नरक की सत्यता । नरक विषय संकल्पनात्मक नहीं है । जैनधर्म ने भौगोलिक आधारों पर बतायी हुई यह एक वास्तविकता है । यह सत्य है कि विज्ञान आजतक नरक को खोज नहीं पाया है । मात्र इसके आधार पर हम नरक के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकतें । विज्ञान की अपनी मर्यादाएँ सिद्ध है । जैसे मूलतत्त्वों की संख्या धीरे–धीरे बढती हुई विज्ञान की दृष्टि से १११ हो गयी है । जैन आगमानुसार मूलतत्त्वों की संख्या पहले ही १६८ बतायी जा चुकी है । वैसे ही शायद नरक की भी खोज की जायेगी ।

सूत्रकृतांग में पाचवें 'नरकविभक्ति' नामक अध्ययन में, नरक का वर्णन दिखायी देता है । टीकाकारों ने इसी के आधार से नरक शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी है –

१) नीयन्ते तस्मिन् पापकर्माणा इति नरका: ।

२) न रमन्ते तस्मिन् इति नरका: ।

अर्थात् पापकर्म करनेवाले प्राणी जहाँ पर वेदना, पीडा और दु:खों को भोगता है, सुख नहीं पाता, वह स्थान नरक है ।

स्थानांगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र और सूत्रकृतांग के इस अध्ययन में सारांशरूपेण नरकगमन के मुख्य चार कारण या हेतु बतलाए हैं । नारकी जीव तीन प्रकार से यातनाएँ भोगता है । इसका विस्तृत वर्णन जैन मूलग्रन्थों में विस्तार से पाया जाता है।

सूत्रकृतांग में नरक का वर्णन क्रमशः प्राप्त नहीं होता परन्तु बाकी जगह सात नरक की भूमियाँ, उनके स्थान, नाम, रचना, लम्बाई-चौडाई, गति-स्थिति आदि का इतना विस्तृत वर्णन मिलता है कि सन्देह के लिए कोई स्थान ही नहीं है । बौद्ध और ब्राह्मण परम्पराएँ भी इसका समर्थन करती है ।

यह बात बार-बार पूछी जाती है कि नरक के शारीरिक दु:खों का वर्णन ही बार-बार क्यों किया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा सुख-दु:ख से परे है, अजर-अमर-अविनाशी है । आत्मा को कोई मार-काट या जला नहीं सकता । तो फिर जो भी दु:ख है वह शारीरिक ही होगा । दूसरी एक बात कही जाती है कि इसी पृथ्वीतल पर हम जो भी नरकसदृश रोग, दु:ख, पीडा, प्रदूषण, आतंकवाद, युद्ध आदि भोग रहे हैं - यही नरक है । इसके प्रतिवाद में कहती हूँ कि यह तो इस अवसर्पिणीकाल के पंचम आरे का प्रभाव है । इस काल में पाये जानेवाले सुख-दु:ख, सुखाभास और दु:खाभास है । इसलिए वे नरक के दु:ख नहीं हो सकते ।

मनुष्य अपने सभी कृत पापकर्मों को यहाँ नहीं भोग पाता है । इसके लिए हमारे पास श्रेणिक राजा, श्रीकृष्ण आदि कई उदाहरण है । इसलिए मेरा मानना है कि भगवान की वाणी त्रिकाल सत्य है । नरक एक संकल्पना न होकर सत्य ही सत्य है, वास्तविकता है ।

◆◆◆

(८) स्त्रीपरिज्ञा : एक प्रतिक्रिया : क्या भगवन् आप भी !

– ज्योत्स्ना मुथा

सूत्रकृतांग में विविध दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का उल्लेख हैं । जैन दर्शन की रूपरेखा व्यवस्थित रूप से भले न बताई हो पर परिग्रह को सबसे कठोर बन्धन कहा है । उसे जानकर तोडने के लिए –

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो, किं वा जाणं तिउट्टई ।।

इस गाथा से ही इस श्रुतस्कंध की शुरुआत की है । उपसर्ग, धर्म, समाधि, वैतालीय, कुशील, वीर्य अध्ययन में इसी बात पर जोर दिया है । पर बीच में ही 'स्त्री परिज्ञा' नामक अध्ययन में विशेषत: दूसरे उद्देशक में स्त्रीवृत्तियों का जो वर्णन किया है उसे पढकर एकाएक मुँह से निकला, 'क्या भगवन् आप भी !'

क्या आप वही भगवन् हो जिन्होंने स्त्रीदास्यत्व दूर किया । अपने संघ में साधु के साथ साध्वी को तथा श्रावकों के साथ श्राविकाओं को तीर्थ के रूप में स्थान दिया । चंदना को संघप्रमुखा बनाया । आप तो त्रिकालदर्शी हो । आप भूत, भविष्य और वर्तमान अच्छी तरह से जानते थे । तो आपको ये सब पता है ना ? प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान के समय बाहुबली को जगानेवाली ब्राह्मी सुंदरी जैसी बहनें थी । भरत चक्रवर्ती अपने से दूर रहें इसलिए साठ हजार आयंबिल करनेवाली सुंदरी ही थी । 'अंकुसेण जहा नागो' इस प्रकार रथनेमि को साधुत्व से भ्रष्ट होते हुए बचानेवाली राजीमती एक स्त्री ही थी । अपने शीलरक्षण के लिए अपनी जिह्वा खींचकर मरनेवाली चंदना की माँ धारिणी आपको पता थी। प्रकाण्ड पंडित आ. हरिभद्र को ज्ञान देनेवाली याकिनी

महत्तरा एक स्त्री ही थी। जहाँ तक आपका स्वयं का अनुभव है जब आपने दीक्षा ली तो मुँह से ऊफ् तक न निकाला वह यशोदा कौन थी ? वह तो आपके साधनामार्ग में रुकावट बनी ऐसा हमने कहीं भी नहीं पढा । भगवन् ! आपके समय साधुओं से जादा साध्वियाँ और श्रावकों से जादा श्राविकाएँ थी । आज भी कोई अलग स्थिति नहीं है । वर्तमान में जप-तप करने में महिलाएँ ही आगे होती हैं । स्वाध्याय मंडळ नारियोंसे ही सुशोभित हैं । इतना ही नहीं, जैन अध्ययन और अध्यापन करने में स्त्रीवर्ग ही आगे है और उन्हें मार्गदर्शन करनेवाली एक प्रज्ञावान स्त्री ही है । ये तो आपने अपने ज्ञान से देखा ही होगा। फिर हमपर इतना अविश्वास क्यों? इतनी शंकाएँ क्यों ?

भगवन् इस समाज को भी आप भलीभाँति जानते हो । जिसे कोई शास्त्र का ज्ञान भी नहीं है, पर उन्हें किसीने शास्त्र की बात बतायी, तो वह समाज बिना समीक्षा किये आँखें मूँदकर उसपर विश्वास करता है । तो आपने स्त्रीसंग को टालने को (परित्याग) कहा, वह समाज तो स्त्रीजन्म को ही टालने लगा और स्त्रीभ्रूण हत्या तक उसकी सोच जा पहुँची है । क्या दीनदयालु भगवन् को ये पसंद है ? मंजूर है ?

भगवन् मोहनीय कर्म का उदय तो सभी जीवों का होता है, तो सिर्फ स्त्री को ही दोषी क्यों ठहराया गया ? आपने तो मोक्ष अवेदी को बताया है, तो स्त्रीवेद, पुरुषवेद की बात ही कहाँ ? अनेकान्त के पुरस्कर्ता भगवन् आपने ऐसी एकान्त की बात कैसे की ? स्त्रीस्वभाव का इतना रंजक वर्णन !

उपसंहार :

नहीं, नहीं ऐसा कदापि नहीं हो सकता ! अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी, करुणा के अवतार, जिनकी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों के प्रति

संवेदनशीलता, मैत्रीभाव, समदर्शिता थी, वे ऐसी एकान्त मिथ्याबात कह ही नहीं सकते । जिनका पुरुषार्थ पर इतना विश्वास वे हम पर अविश्वास कैसे दिखा सकते हैं ? यह तो किसी स्त्रीद्वेषी व्यक्ति का काम है, जिसने यह अध्ययन इसमें जोडा है ! घट घट के अन्तर्यामी ये बात आप ही अच्छी तरह से जान सकते हो या देख सकते हो । हम तो छद्मस्थ हैं, परंतु आप पर और आपने बताये मार्गपर हमें पूरा विश्वास है ।

◆ ◆ ◆

(९) सूत्रकृतांग का दार्शनिक विश्लेषण : श्रीमद् राजचन्द्र के अनुसार

– सौ. हंसा नहार

द्वितीय अंग आगम, सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन 'समय' में स्वसमय याने जैन सिद्धान्त तथा परसमय याने अन्य धर्मों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है ।

उन दर्शनों का निरूपण करनेवाले कुछ तत्त्वशास्त्रज्ञों के नाम –

१) षड्दर्शनसमुच्चय – आ. हरिभद्रसूरिजी, ८ वी शताब्दी

२) अन्ययोग–व्यवच्छेद–द्वात्रिंशिका – आ. हेमचन्द्रसूरिजी १२ वी शताब्दी

३) स्याद्वाद मंजरी–टीका – आ. मल्लिषेणसूरिजी, १२ वी शताब्दी (जो आगे चलकर जैन दर्शन का एक सुंदर ग्रन्थ और स्वतन्त्र मौलिक रचना के रूप में प्रसिद्ध हुआ ।)

४) सम्यक्त्व षट्स्थान – उपाध्याय श्री यशोविजयजी, १८ वी शताब्दी

५) आत्मसिद्धिशास्त्र (गाथा ४३ से १०० तक) – श्रीमद् राजचन्द्र २० वी शताब्दी.

सूत्रकृतांग के समान श्रीमद्जी ने भी किसी वादों का नामनिर्देश किये बिना गुरु–शिष्य के शंका–समाधान रूप से तर्कयुक्त द्वारा सत्य सिद्धान्त का निरूपण किया है ।

१) पंचमहाभूतवाद (बृहस्पतिमतानुयायी चार्वाक, जडवादी दर्शन, लोकायतिक): पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा आकाश इन पाँच महाभूतों के संयोग से जीवात्मा की उत्पत्ति और विनाश से जीव का नाश ।

२) तज्जीव–तच्छरीरवाद : शरीराकार में परिणत महाभूतों से आत्मा की उत्पत्ति।

श्रीमद्‌जी का मत :

१) मृत शरीर में पाँचों महाभूत विद्यमान होने पर भी शरीरी मर गया ऐसा व्यवहार क्यों ? यह सिद्ध करता है पंचमहाभूतों से भिन्न आत्मा की सत्ता है, जिस कारण शरीर के विभिन्न अवयवरूप यन्त्र अपना अलग–अलग कार्य करते हैं ।

२) जड किसी भी काल में चेतन नहीं होता और चेतन जड नहीं होता । दोनों सर्वथा भिन्न स्वभाव के पदार्थ हैं । परस्पर गुणों का संक्रमण कर के दोनों कभी समान नहीं होते ।

३) आत्मा कोई भी संयोग से उत्पन्न नहीं होता ।

४) इन्द्रियों को अपने–अपने विषय का ज्ञान हैं परन्तु दूसरी इन्द्रियों के विषय का ज्ञान नहीं है । पाँचों इन्द्रियों के विषय को जाननेवाला और इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी स्मृति में रखनेवाला इन्द्रियों से भिन्न आत्मा है ।

५) जगत् में जो विचित्रता दिखाई देती है, यह शुभाशुभ कर्म के बिना संभव नहीं । दूसरा श्रीमद्‌जी को ८ वर्ष की उम्र में जातिस्मरण ज्ञान हुआ । यह दोनों बातें पुनर्जन्म सिद्ध करती है ।

(३) चार्वाक् से विपरीत आत्मद्वैतवाद (एकात्मवाद) नैयायिक :

अ) आत्मा के अतिरिक्त जड तत्त्व कोई नहीं है ।

ब) जैसे एक ही पृथ्वीपिण्ड (समुद्र, पर्वत, नगर इ.) नाना रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा नाना रूपों में दिखाई देता है ।

क) 'वेदान्ती' ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को असत्य मानते हैं ।

	एकात्मवाद	**श्रीमद्जी**
१)	आत्मा सर्वव्यापी होने से गमन नहीं कर सकता ।	**१)** शरीरव्यापी होने से राग-द्वेष में (परभाव में) कर्म का कर्ता होने से नाना गतियों में गमन करता है ।
२)	ध्रौव्यात्मक	**२)** उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त
३)	एकान्त कूटस्थ नित्य	**३)** परिणामी नित्य

(४)	**आत्मषष्ठवाद**	**श्रीमद्जी**
१)	पाँच महाभूत और छठ्ठा आत्मा है ।	**१)** पृथ्वी, अप्, तेज, वायु - चेतनायुक्त (आत्मा) आकाश जड (अजीव) है ।
२)	आत्मा-लोक दोनों नित्य हैं ।	**२)** ''आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय'' (गाथा ६८)
३)	सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं । असत् की उत्पत्ति नहीं, सत् का नाश नहीं ।	**३)** एकान्त-नित्य मानने पर कर्तृत्व परिणाम नहीं और कर्म का सर्वथा अभाव होगा ।

(५) क्षणिकवाद - बौद्धों का मत (दो रूपों में)

अ) अफलवाद (पञ्चस्कन्धवाद) : क्षणमात्र स्थित रहनेवाले रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पाँच ही स्कन्ध हैं, आत्मा नामक पृथक् पदार्थ नहीं ।

ब) चतुर्धातुवादी

श्रीमद्जी

अ) आत्मा को क्षणिक या आत्मा ही नहीं माना तो सुख-दु:ख रूप फल का वेदन किसे होगा ? जाना और नष्ट हो गया तो कहेगा कौन ? क्षणिकता का सिद्धान्त प्रकट करनेवाला कभी क्षणिक नहीं हो सकता । जागृत-स्वप्न-निद्रा वैसे ही बाल-युवा-वृद्ध इसमें जो अवस्था का नाश हुआ उसको जाननेवाला व स्मृति में रखनेवाला आत्मा है ।

ब) क्षणिक है तो मोक्ष किसका ?

क) सिर्फ अवस्था का नाश होता है । यदि सत् का सर्वथा नाश हो तो संसार व्यवस्था न रहे ।

(६) कर्मोपचय निषेधवाद (क्रियावाद) बौद्धों का मत :

मानसिक संकल्प को ही हिंसा का कारण बताया । राग-द्वेष रहित मांसभक्षण करे तो कर्मबन्ध नहीं ।

श्रीमद्जी

विष-अमृत स्वयं नहीं जानते कि हमें इस जीव को फल देना है, तो भी उन्हें ग्रहण करनेवाला जीव विष-अमृत के परिणाम की तरह फल पाता है।

(७) अकारकवाद (अक्रियावाद) सांख्य मत :

आत्मा अमूर्त, अकर्ता, नित्य तथा निष्क्रिय स्वरूप है ।

श्रीमद्जी

अ) कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं तो परलोक नहीं ।

ब) अपरिणामी कूटस्थ नित्य आत्मा हो तो बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं ।

क) गुण और गुणी हमेशा साथ ही होते हैं । प्रत्येक अवस्था 'मैं हूँ' ऐसा अनुभव ।

(८) जगत्-कर्तृत्ववाद - ईश्वरकृत लोक

श्रीमद्जी

कर्ता ईश्वर कोई नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव ।
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोष प्रभाव ।।(७७)

उपसंहार :

आत्मा एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य नहीं, पर परिणामी नित्य है । इस प्रकार श्रीमद्जी ने निष्पक्षपात बुद्धि से एकान्तिक मान्यता का समाधान कर स्याद्वाद शैली से समन्वय साधा है । उनका प्रयोजन, खण्डन-मण्डन न कर के आत्महित को मुख्य रख के परमार्थ समझाने के लिए किया है ।

◆◆◆

(१०) उपसर्गपरिज्ञा में पार्श्वस्थों का स्त्रीसंगविषयक दृष्टिकोण

– अर्जुन निर्वाण

उपसर्गपरिज्ञा में स्त्री को उपसर्ग के रूप में दिखाया गया है । इसके चतुर्थ उद्देशक में स्त्री को परिषह–उपसर्ग कहते हुए इस परिषह को जीतने में असमर्थ साधुओं को पार्श्वस्थ और अन्यतीर्थी कहा है ।

ऐसे साधु पार्श्वनाथ के अनुयायी थे । परन्तु उनके आचरण में शिथिलता आ गई थी । इसका कारण था आजीवक एवं अन्यपन्थीय साधुओं का स्त्रीसंगविषयक दृष्टिकोण ।

इन्ही विचारों को दर्शाने के लिए यहाँ निम्न उदाहरण दिए गए हैं –

१) पके हुए फोडे को दबाकर मवाद निकाल देने से तुरन्त आराम मिलता है वैसे ही कामसुख की इच्छा करनेवाली स्त्री से समागम करने पर होता है।

२) भेड एवं पिंग पक्षिणी का बिना हिलाए जल पिना भी उपरोक्त स्त्री समागम के बराबर है ।

३) पूतना राक्षसी का बच्चों के प्रति लोलुप व्यवहार उसी प्रकार स्त्रीसंग भी दोषरहित ।

इन उदाहरणों से यही प्रतीत होता है कि इन साधुओं का स्त्रीसंग का विचार अच्छा नहीं है । इसके समर्थन में वे यह कहते हैं कि हम कहाँ कायम रूप से स्त्रीपरिग्रह कर रहे हैं ? जहाँ हम रात्रिनिवास करते हैं वही पर समागम सुख की इच्छा करनेवाली नारी से, हम यह सुख प्राप्त करते हैं । उसमें लिप्त नहीं होते क्यों कि कामवासना सम्पूर्णत: प्राकृतिक है । परन्तु यह विचार पूर्ण रूप से स्वीकार्य नहीं होता । यहाँ पर स्त्री को ही कामसुख की याचिका बताया गया है।

स्त्री को ही दोषी ठहराया गया है। जबकि ताली एक हाथ से नहीं बजती। साधु इस याचना को अस्वीकार भी कर सकता है। परन्तु उसे मान्यता देकर वह अपने स्खलनशील होने का प्रमाण ही देता है। स्त्री को परिषह मानना यह आगम विचार इसलिए सहीं नहीं लगता। इसको उपसर्ग मानने का और ऐसे उदाहरण देने का कारण यही हो सकता है कि साधु को ऐसे विचारों से घृणा निर्माण हो और वह इनसे दूर रहें। निश्चय ही ऐसे उदाहरण निम्नस्तरवाले और एकांगी दृष्टिकोणवाले भी।

यही पर नियुक्तिकार और चूर्णिकार स्त्री को पुरुष के समान बताते हैं। वराहमिहिर यह कहते हैं कि स्वभाव से स्त्री-पुरुष समान है। उनके गुण-दुर्गुण एक जैसे ही है। परन्तु नारी जीवन और कार्यक्षेत्र ऐसा है कि दुर्गुण सामने आते हैं और गुण पीछे रह जाते हैं। परन्तु नारी अपनी बुराईयों पर विजय प्राप्त करने का हमेशा प्रयत्न करती है जबकि पुरुष ऐसा करते नहीं दिखाई देते।

◆◆◆

(११) पानी की एक बूँद

– चंदा समदडिया

कह रही थी, पानी की एक बूँद मुझसे एक दिन ।
हाल ए दर्द, किस को सुनाऊँ, अब तो बहना तू ही सुन ।
चतुर्गति की मारी मैं भी, चतुर्गति की मारी तुम ।
बस् अव्यक्त चेतना हूँ मैं, और व्यक्त चेतना हो तुम ।

आज तुम्हारे हाथ में बाजी, कल पलट भी सकती ।
आज कर लो, तुम मनमानी, मैं नहीं कर सकती ।
कोई बनकर हितचिंतक, कर रहे हैं जनजागरण ।
कहते हैं पानी को, एक घटक पर्यावरण ।
डर है इन्हें, कहीं धोखे में न आ जाय उनका जीवन ।
इसलिए करते हैं, 'पानी बचाओ' आंदोलन ।

कोई कहता है, मुझे महाभूत, तो कोई कहता है H_2O ।
विद्वानों के इस मेले में, मेरा सत्य स्वरूप कहनेवाला कोई तो हो ।
कोई कहता है मुझे जीवन, तो कोई कहता है नीर ।
हमें 'स्थावर जीव' की उपाधि देनेवाले अकेले महावीर ।

कोई कहता है, जलस्पर्श से होती है आत्मशुद्धि ।
करता है स्नान बार बार, मानकर पानी से मुक्ति ।
हजारों बार, तीर्थस्नान से भी मिलती नहीं सिद्धि ।
अरे नादानों ! ये तो भ्रान्त धारणा है, विपरीत बुद्धि ।

सच बताऊँ ? किसी की आत्मशुद्धि मैं नहीं कर सकती ।
वरना क्या प्रथम पादानपर, अपने आप को न रखती ?
और तो और मुक्त हो जाते अब तक, मेरे सुखदु:ख के साथी ।
सारे के सारे जलचर, और उनकी जाति प्रजाति ।

और बिलकुल सीधी सी बात है, कैसे नहीं समझानी ।
अगर मैं पाप धो सकती हूँ, तो क्या पुण्य भी नहीं धोती ?
उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, या हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति ।
पता नहीं उन्हें सिद्धि मिलती है या नहीं ।
पर हमारी तो नाहक ही जान जाती ।

यह मैं केवल अपने ही बारे में नहीं कहती ।
यही है मेरे स्वजनों की भी आपबीती ।
होम, हवन, अनुष्ठान के लिए कटती कितनी वनस्पति ।
नष्ट की जाती है उनकी, बीज, वृद्धि और उत्पत्ति ।
स्थावर के साथ साथ, कितने त्रस की भी बलि चढती ।
'अनार्य धर्मा' ऐसे लोगों की अकाल में ही मृत्यु होती ।

मुझे जीवन मानकर, जो मेरा ही जीवन हरता है ।
भगवान् क्या दण्ड दे उसे, वह तो स्वयं कर्ता, भोक्ता है ।
मेरी तो समझ में नहीं आता, यह कैसी तार्किकता है ।
मुक्ति हेतु खुद स्नान करता है, मुक्ति प्राप्त प्रभु को भी स्नान करवाता है ।
उस अहिंसा के देवता को भी, फूलों से सजाया जाता है ।

‘अहिंसा परमो धर्म की जय’ जुलूस में नारे लगाता है ।
और केवल ज्ञान से प्रकाशित, प्रभु के सामने सैकडों दीप जलाता है ।
सही कहा तुमने, अहिंसा का स्वरूप कोई विरला ही समझ पाता है ।

सुना है आजकल पुणे में भी, हो रही है ‘पानी कटौती’ ।
चलो इस बहाने, वे भी बचायेंगे थोडीसी प्राकृतिक सम्पत्ति ।
जिन्होंने समझ रखी है इसे, अपने बाप की बपौती ।
इसलिए मेरी मानो,
हम सबका है, सुख दुःख समान संवेदन ।
बिनती है मेरी, मत करना प्राण-वियोजन ।
अब तो तुम नतीजा भी जानती हो, बार बार जन्म मरण ।
कहते हैं महावीर, इसका तो है कर्मसिद्धान्त ही कारण ।
मैंने कहा - अरे ! यही बताते हैं सूत्रकृतांग में ‘मतिमान माहण’ ।

◆ ◆ ◆

(१२) सूत्रकृतांगातील तीन शब्दांचे मूळ अर्थ

– चंदा समदडिया

(अ) समवसरण

जम्बूस्वामींनी केले प्रश्न
कसे होते महावीर भगवान
कसे त्यांचे ज्ञान, दर्शन
कसे संयम, तप आणि ध्यान ।।१।।

केले सुधर्मा स्वामींनी वर्णन
ज्यांनी पाहिले महावीर जवळून
प्रत्यक्ष गुणांचे हे महावीर स्तवन
झाल्या उपमाही अजरामर ।।२।।

अशा महावीरांना वंदन
करून वीरत्थुईने मंगलाचरण
गेलो पहावया समवसरण
आणि पहातो तो काय ? तेथे तर वेगळेच दृश्य ।।३।।

अहो नव्हत्या सोन्या चांदीच्या भिंती
नव्हते सोन्याचे परकोट, नव्हते महाप्रातिहार्य
वैभव किंवा स्फटिकाचे सिंहासन होते
विद्वानांचे संमेलन एक सुरेख वादसंगम ।।४।।

मते होती तीनशे त्रेसष्ठ

केले चारांतच विभाजन

क्रिया, अक्रिया, विनय, अज्ञान

करून मतमतांचे समालोचन ।।५।।

स्वमताचे केले निरूपण

असे होते दिव्य समवसरण

ठेवले सूत्रकृतांगाने जपून

धन्य महावीर मतिमान ।।६।।

(ब) ब्रह्मचर्य–गुरुकुलवास

ब्रह्मचर्य गुरुकुलवासाचे संबोधन

ब्रह्मचर्याचे अर्थ होती तीन

चारित्र, गुरुकुलवास व विरत मैथुन

कळले सूत्रकृतांगातून ।।१।।

एक आदर्श शिक्षणव्यवस्थापन

‘दीक्षा’, शिक्षा असे गुरुकुलवास दोन

दीक्षा गुरुकुलवास आजीवन

आदर्श गुरू शिष्याची करतो जडण घडण ।।२।।

ग्रंथ ते निर्ग्रंथ मार्गक्रमण

आवश्यक ब्रह्मचर्यपालन

ज्ञानप्राप्ति गुरुकुलवासाचे प्रयोजन

ब्रह्मचर्याशिवाय अशक्य ज्ञानाराधन ।।३।।

आदर्श शिक्षणप्रणालीची ही भारतीय ठेवण
कालौघात गेले सारे बदलून
शिक्षणाचे झाले पाश्चात्यीकरण
शिक्षण फक्त अर्थकारण ।।४।।

दीक्षा गुरुकुलवासात
जेव्हा होते ब्रह्मचर्याचे शिथिलीकरण
अहो ! कुशील ठरले पार्श्वस्थ श्रमण
महावीरांनी मुनीस केले सतत सावधान
संपूर्ण ग्रंथात सांगितले पुन्हा पुन्हा स्त्रीवर्जन
ब्रह्मचर्य व ज्ञानग्रहण
यातील संबंधाचे विज्ञान
जाणती महावीर भगवान ।।५।।

(क) सामायिक

त्रस स्थावर जीवनिकाय
राहिले विश्व व्यापून
सुखदुःख समान चेतन
सर्व आत्मवत् मानून
करतो षट्जीवांचे यतन
आणि समतेचे पालन ।।१।।

सर्वांना देतो अभयदान
राहतो निर्भय होऊन

उपसर्गादि करतो सहन
होते कषायांचे उपशमन ।।२।।

घेतो अचित्त जलपान
आणि समभावाने भोजन
नाही गृहस्थ पात्रग्रहण
नसे आसक्ती प्रलोभन ।।३।।

सावद्ययोग पच्चक्खाण
कृत कारित अनुमोदन
असे सामायिक यावत् जीवन
जो करितो परिपालन
त्याचे उत्तम सामायिक जाण
त्याचे निश्चित देवलोक गमन ।।४।।

दोघांनाही दिले मोक्षसाधन
असो तो श्रावक वा श्रमण
सम्यक् सामायिकाचे उदाहरण
आहे इतिहास प्रमाण ।।५।।

केले प्रत्यक्ष महावीरांनी वर्णन
झाले पुणियाचे धन्य जीवन
आणि धन्य महावीर दर्शन ।।६।।

◆ ◆ ◆

(१३) 'वीरत्थुई' के अन्तरंग में

सूत्रकृतांग-लेखमाला (लेखांक १) : जैन जागृति मासिकपत्रिका

व्याख्यान : डॉ. नलिनी जोशी

शब्दांकन : सौ. चंदा समदडिया

जैन दर्शन में प्रत्यक्ष महावीर वाणी 'द्वादशांगी' में सूत्रकृतांग दूसरे स्थानपर है । दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित इस अंग-आगम का प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन अर्धमागधी का दुर्लभ नमुना माना जाता है । महावीर के समकालीन विविध दार्शनिक मतों का अर्थात् स्व-पर-सिद्धान्तों का उल्लेख एवं विवेचन सूत्रकृतांग में किया गया है । इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह अंग-आगम बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

सूत्रकृतांग का छठा अध्ययन 'वीरस्तुति' है । भक्तामर-स्तोत्र, कल्याण मन्दिर-स्तोत्र की तरह यह स्तुति काव्य भी आद्य शब्द से अर्थात् 'पुच्छिसु णं' नाम से जाना जाता है । हर साहित्य-विधा की तरह स्तुति, स्तोत्र इस विधा का जन्मस्थान भी आगम में, आचार्य सुधर्मा द्वारा सर्वप्रथम विरचित 'वीरत्थुई' में मिलता है । 'वीर' शब्द यहाँ प्रधानतया भगवान महावीर वाचक है ।

जब ब्राह्मण या वैदिक परम्परा में महाहिंसात्मक यज्ञादि का प्रचुर मात्रा में प्रवचन था, ब्राह्मण वर्ण की मनमानी, धर्म के नामपर लोगों को सरे आम लूटना, इन सब बातों से मानव-समाज पीडित था । ऐसी परिस्थिति में भगवान महावीर ने सभी प्राणीमात्रों को शान्ति एवं सुकून देनेवाले अहिंसा एवं अनेकान्त धर्म की प्ररूपणा की । सदैव सत्य-प्रज्ञा से समीक्षा करके जो धर्म कहा, जो वैचारिक क्रान्ति की, उसकी गहरी छाप जन-मानस पर पडी । इन विचारों ने श्रमण,

माहण, अन्यतीर्थी आदि सभी को भगवान महावीर की ओर आकृष्ट किया। अनायास ऐसा कल्याणकारी सत्यधर्म समझानेवाले इस महामानव को जानने की इच्छा इन सबको हुई।

जम्बूस्वामी महावीर के द्वितीय पट्टधर थे। जिन्होंने भगवान महावीर को देखा या सुना नहीं था। उन्हें भी ऐसे युगपुरुष को जानने की जिज्ञासा थी ही, तो उन्होंने इन सभी जिज्ञासुओं की ओर से अपने गुरु आचार्य सुधर्मा से भगवान महावीर के बारे में पूछा। आचार्य सुधर्मा ही एक ऐसे अधिकारी व्यक्ति थे कि जो महावीर को यथातथ्य जानते थे। आचार्य सुधर्मा भगवान महावीर के पाँचवें गणधर एवं शिष्य कि जिन्होंने भगवान महावीर के पास दीक्षित होकर लगातार तीस वर्षतक उनके पादमूलों में बैठकर विविध अनुभवों को संजोया, ज्ञानकणों का अर्जन किया। भगवान महावीर की अध्यात्म साधना को नजदीकी से देखा था। केवलज्ञानी प्रभु महावीर की हर साँस से वाकिफ थे आचार्य सुधर्मा। इसलिए सम्पूर्ण महावीर-व्यक्ति-दर्शन केवल सुधर्मा ही यथाश्रुत और यथातथ्य करा सकते थे। यह सब ध्यान में लेकर प्रखर प्रज्ञा के धनी जम्बूस्वामी आचार्य सुधर्मा से भगवान महावीर के आत्मिक, आन्तरिक गुण-ज्ञान, दर्शन, शील आदि के बारे में पूछते हैं। महावीर के शरीरांगोपांग, माता-पिता, नगरी या पारिवारिक सम्बन्धों के बारे में नहीं।

यहाँ वीर-स्तुति में महावीर को णायसुय, णायपुत्र, कासव, वद्धमाण आदि कुल एवं गोत्र निर्देशक नामों से सम्बोधित किया है। 'महावीर' नामोल्लेख एक बार भी नहीं है। सम्भव है 'महावीर' का यह नामाभिधान उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया हो।

भगवान महावीर के ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणों को जगत् के हर उत्तमोत्तम, सर्वश्रेष्ठ वस्तु या पदार्थ की उपमा से उपमित करने का प्रयास सुधर्माजी ने किया है । जिसकी एक प्रदीर्घ नामावली यहाँ मिलती है । जो आज भी कवियों द्वारा उपमाओं के लिए प्रयुक्त होती हैं । जैसे अपनी अपनी जातियों में सर्वश्रेष्ठ - ऐरावत हाथी, अरविन्द, गंगानदी, शाल्मली वृक्ष, नन्दनवन, इक्षुरस, अभयदान, ब्रह्मचर्य, तप आदि । आचार्य सुधर्मा की काव्य प्रतिभा से कभी एक एक गुण के लिए एक एक उपमा दी गई है, जैसे आन्धी-तूफान में अविचल, अनेक देवताओं को भी प्रमुदित करनेवाले सुमेरु पर्वत की उपमा । जिससे जैन दर्शन के भूगोल एवं खगोल की भी जानकारी मिलती है । इन सारी उपमाओं से उपमित करनेपर भी अनन्त गुणों के धारक, भगवान महावीर अनुपमेय ही है क्यों कि महावीर शब्दातीत है ।

सह सान्निध्य से ब्राह्मण और श्रमण परम्परा एकदूसरे से कम ज्यादा प्रभावित होती रही है । इसका उदाहरण यहाँ मिलता है । तत्कालीन वैदिक समाज में इन्द्र देवता ज्यादा पूजी जाती थी । इन्द्र महोत्सव आदि त्यौहार भी मनाये जाते थे । शायद इसी के प्रभाव से वीर-स्तुति में इन्द्र देवता का जिक्र अनेक बार हुआ है । वैसे ही तत्कालीन समाज में प्रचलित यज्ञ सम्बन्धित वैरोचन अग्नि का भी जिक्र इसमें हुआ हैं ।

'वीरस्तुति' की अन्तिम गाथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । क्योंकि उसमें अनेक बातों का निर्देश है । आचार्य सुधर्माजी अन्तिम गाथा में कहते हैं, ''अरिहन्त द्वारा भाकित, युक्ति संगत, शब्द और अर्थ से शुद्ध धर्म को सुनकर श्रद्धा करनेवाले को शीघ्र ही मोक्षप्राप्ति या उच्च वैमानिक देवगति प्राप्त होती है ।'' इसमें सोच्चा

अर्थात् श्रुत्वा शब्द से जैन दर्शन की श्रुतज्ञान की मौखिक परम्परा सूचित होती है, जो सन्त सतियोंद्वारा आगम ज्ञानपर आधारित प्रवचनों के जरिए आज भी जीवित हैं ।

यह स्तुति स्तोत्रों की रचना का प्रवाह २६०० वर्ष बाद आज भी प्रवाहित हो रहा है । भक्ति-मार्ग में भक्ति, या आराधना करने का स्तुति-काव्य एक प्रमुख माध्यम है । भक्तिमार्ग पूरा हावी हो चुका है । इसलिए ऐसे स्तवनों की पठन, रटन होता है । जब कि आवश्यकता है उसके, आगमों के चिन्तन, मनन की ।

चाहे जो भी हो, पर इतना निश्चित है कि इस वीरस्तुति के माध्यम से आनेवाली पीढियाँ भगवान महावीर से जरूर परिचित होंगी । आचार्य सुधर्मा की यह अनमोल देन है ।

◆◆◆

(१४) समवसरण : एक परिशीलन

सूत्रकृतांग-लेखमाला (लेखांक २) : जैन जागृति मासिकपत्रिका

व्याख्यान : डॉ. नलिनी जोशी

शब्दांकन : सौ. चंदा समदडिया

आगम युग का प्रतिनिधित्व करनेवाले 'सूत्रकृतांग' अंग आगम में स्व-पर सिद्धान्तों का उल्लेख एवं विवेचन किया गया है । इस दृष्टि से 'सूत्रकृतांग' का ऐतिहासिक महत्त्व है । बिना किसी कलह या वितंडवाद के स्व-सिद्धान्त मंडन तथा अन्य सिद्धान्तों का तर्कयुक्त खंडन इसमें मिलता है ।

'समवसरण' की रूढ मान्यता इस प्रकार है - तीर्थंकरों के उपदेश देने का इन्द्रादि देवकृत अतिवैभवपूर्ण मंच, या स्थान । यह स्वर्ण-रजत धातुओं से बना, मौल्यवान मणिरत्नों से सुशोभित, स्फटिक सिंहासनादि अष्ट महाप्रातिहार्यों से युक्त, बारह परिषद जैसे श्रोतृवर्ग से मण्डित होता है । जहाँ सभी श्रोता आपसी वैरभाव भूलकर तीर्थंकरों की अमृतवाणी का रसपान करते हैं । ऐसा अद्भुत रम्य नजारा 'समवसरण' कहलाता है ।

'सूत्रकृतांग' के 'समवसरण' अध्ययन में 'समवसरण' शब्द का महावीरकालीन प्रचलित मूल अर्थ इस प्रकार मिलता है । जहाँ वादसंगम होता था, या विचारों के आदान-प्रदान के लिए इकट्ठा आये हुए लोगों की सभा को 'समवसरण' कहते थे । अनेक विभिन्न दार्शनिक प्रवक्ता एकत्रित होकर अपने अपने दृष्टियों की तत्त्वचर्चा या धर्मचर्चा जहाँ करते थे वह स्थान 'समवसरण' कहलाता था । इतिहास के पन्ने खोलकर अगर हम देखते हैं तो भगवती-सूत्र या कल्पसूत्र में वर्णित महावीर-जीवन चरित्र में इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि ग्यारह

वेदविद् ब्राह्मण जो अन्य कितने ही शास्त्रों के जानकार, एवं प्रकाण्ड पण्डित थे, वे 'समवसरण' में अपनी अपनी दार्शनिक जिज्ञासाएँ, आशंकाएँ लेकर महावीर के पास गये और महावीर से उन जिज्ञासाओं का समाधान पाया, ऐसा वर्णन मिलता है । इस तरह 'समवसरण' का 'दार्शनिक चर्चास्थान' यही अर्थ ज्यादा संयुक्तिक लगता है जो कालौघ में बदल गया है । इस तरह महावीरकालीन 'दार्शनिक चर्चा'ओं के लिए सुरक्षित एवं सुदृढ समाजव्यवस्था का परिचय यहाँ मिलता है । इस 'समवसरण' अध्ययन में महावीर के समकालीन सभी दार्शनिक मतों का लेखाजोखा मिलता है, जो प्राचीन भारतीय दार्शनिक इतिहास को प्रकाशित करता है । आत्मा, विश्वस्वरूप, जीवसृष्टि, मोक्षकल्पना, आचरण पद्धति, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म आदि अनेक मुद्दों पर थोडी थोडी मतभिन्नतावाले कितने ही 'वाद' तब प्रचलित थे । 'सूत्रकृतांग' के प्रथम 'समय' अध्ययन में ऐसे अनेक वादों का उल्लेख मिलता है । उदा.– चार्वाक, आजीवक – नियतिवाद, बौद्ध – क्षणिकवाद, शून्यवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, नित्यवाद, सांख्य, शैव आदि । 'सूत्रकृतांग' के टीकाग्रन्थ निर्युक्ति एवं चूर्णि में इन सब वादों के पुरस्कर्ताओं के नाम भी मिलते हैं, जो इन सबका ऐतिहासिकता का प्रमाण है ।

'समवसरण' अध्ययन में इन सारे वादों को मुख्य चार ही विभागों में विभाजित किया है । क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद यह चार सिद्धान्त हैं, जिन्हें अन्यतीर्थिक पृथक्-पृथक् निरूपण करते हैं । प्रथम हम 'अज्ञानवाद' क्या कहता है यह देखते हैं ।

१) **अज्ञानवाद :** अज्ञानवादी 'अज्ञान' को ही श्रेयस्कर, कल्याणकारी मानते हैं । उनका कहना है, ''अतिविशाल इस सृष्टि का पूरा ज्ञान तो हम प्राप्त

नहीं कर सकते । अच्छा, बुरा समझकर भी पूरी तरह अच्छा भी नहीं बन सकतें, तो फिर उस ज्ञान का क्या फायदा ? इसलिए अज्ञान ही अच्छा है ।'' ऐसा कहनेवाले अज्ञानवादी वास्तव में मिथ्यावादी है, क्योंकि वे स्वयं तत्त्व से अनभिज्ञ होते हुए भी, अपने आपको ज्ञानी मानकर दूसरों को उपदेश देते हैं । वे यह नहीं जानते कि 'अज्ञानवाद' का परिचय कराना, या 'अज्ञानवाद' की श्रेष्ठता बताना, अज्ञानवाद का ढाँचा बनाना, यह सब 'ज्ञान' से ही सम्भव है । इसलिए 'अज्ञान' को कल्याण का कारण मानना केवल असम्बद्ध है और संयुक्तिक, या तर्कशुद्ध भी नहीं लगता ।

२) **विनयवाद :** विनयवादी, वस्तुस्वरूप न समझते हुए, सत्य, असत्य, अच्छा, बुरा इनकी परीक्षा किये बिना ही 'केवल विनय से मोक्षप्राप्ति होती है' ऐसा मानते हैं । 'विनयवाद' से कुछ मिलता जुलता संदर्भ, दानामा और प्राणामा प्रव्रज्या के वर्णन में भगवतीसूत्र में मिलता है । 'दानामा प्रव्रज्या' अर्थात् देवता, राजा, माता, पिता आदि सभी का मन, वचन, काया से दान देकर विनय करना होता है । 'प्राणामा प्रव्रज्या' अर्थात् सामने जो भी दिखे, चाहे वह मनुष्य हो या पशु सभी को विनयपूर्वक प्रणाम करना होता है ।

जैन दर्शन में विनय को 'धर्म का मूल' एवं 'आभ्यंतर तप' कहा है। कोई सैद्धान्तिक आधार या तत्त्वाधार न देखते हुए केवल विनय करना यह या तो केवल मूढता है, या फिर ऐसे विनय में शरणागति का भाव है जिसे जैन दर्शन में कोई स्थान नहीं है । जैन दर्शन का कहना है कि शरणागति

से कर्मबन्ध क्षीण नहीं होते, कर्मबन्ध से मुक्ति पाने के लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है । अपने सुखदु:खों का कर्ता भी आत्मा स्वयं है और भोक्ता भी स्वयं ही है । इसलिए केवल विनयवाद से मोक्षप्राप्ति मानना, मिथ्या है ।

३) **अक्रियावाद** : अक्रियावाद के बारे में चूर्णिकार कहते हैं कि, लोकायतिक- चार्वाक, बौद्ध, सांख्य आदि अनात्मवादीही अक्रियावादी है । अक्रियावादियों का कहना है कि ''आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है, तो कोई क्रिया भी नहीं हो सकती और क्रियाजनित कर्मबन्ध भी नहीं हो सकते ।'' इस तरह अक्रियावादी कर्मबन्ध के भय से क्रिया का ही निषेध करते हैं । आक्षेप लेने पर एक पक्ष कहता है 'क्रिया है पर चय संचय नहीं है ।' जबकी दूसरा पक्ष कहता है 'क्रिया है, कर्मबन्ध भी है और चय भी है ।' इस तरह दोनों पक्ष में एकवाक्यता भी नहीं है, परस्परविरोधी वाक्य बोलकर वे लोगों को ठगते हैं । सांख्य दर्शन आत्मा याने पुरुष को अक्रिय मानता है और प्रकृति को क्रियाशील मानता है । बौद्ध दर्शन में आत्मा को 'क्षणिक' मानते हुए भी गौतम बुद्ध की पूर्वजन्मधारित जातककथाएँ सत्य मानते हैं । 'सूत्रकृतांग' में अक्रियावादियों को अन्धे मनुष्य की उपमा दी है, जो हाथ में दीपक होते हुए भी नेत्रविहीन होने से पदार्थों को नहीं देख सकता । वैसे अक्रियावादी प्रज्ञाविहीन होने के कारण विद्यमान पदार्थों को भी नहीं देख सकते । जैन दर्शन में आत्मा को गुण और पर्याय से युक्त द्रव्य माना है । इसलिए गुण की अपेक्षा से आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व माना है और पर्याय

की अपेक्षा से समयवर्ती या क्षणिक भी माना है । जीव और पुद्गल दोनों को जैन दर्शन क्रियाशील मानता है । इसलिए कर्मसिद्धान्त जैन दर्शन की रीढ की हड्डी है, मेरुदण्ड है ।

४) **क्रियावाद :** जो आत्मतत्त्व, गति, आगति, आस्रव, संवर, निर्जरा, कर्मसिद्धान्त, लोकस्वरूप आदि सभी जानते हैं । लेकिन ज्ञान का निषेध करके केवल क्रिया से ही स्वर्ग या मोक्षप्राप्ति मानते हैं उन्हें शास्त्रकार ने 'क्रियावादी' कहा है । जैन दर्शन का 'प्राण' जो 'अहिंसा सिद्धान्त' है, इस सिद्धान्त के परिपालनार्थ जो मन-वचन-काया इन योगों का अर्थात् क्रिया का निषेध किया गया है, इसलिए जैन या श्रमण परम्परा निवृत्तिप्रधान है ऐसा कहा जाता है । लेकिन यहाँ सूत्रकृतांग में 'अहिंसक चारित्रपालन' को भी 'क्रिया' कहा है । चारित्रपालन के अन्तर्गत जो भी जप, तप, स्वाध्याय, सामायिक आदि किया जाता है उन सबको 'क्रिया' ही कहा गया है । इस दृष्टि से जैन दर्शन को ही यहाँ 'क्रियावादी' माना है । जैन सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय से ही स्वर्ग या मोक्षप्राप्ति मानी गयी है । 'संयम' आदि मोक्षप्रद क्रियाओं को जैन दर्शन में क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और विनयवादियों के ३२ भेद बताये गये हैं । ये सब मिलकर ३६३ मत होते हैं । इन सबका 'समवसरण' अध्ययन में निराकरण किया गया है । महावीर के प्रबल प्रतिस्पर्धियों में प्रमुख थे बौद्ध और आजीवक । अक्रियावादी बौद्धों के 'क्षणिकवाद' और 'शून्यवाद' तथा 'सर्वं दुक्खं' इन मतों का निराकरण करते हुए महावीर कहते हैं, ''सयंकडं णन्नकडं च

दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ।'' अर्थात् हरएक को सुखदुःख प्राप्ति स्व-कर्मकृत होती है । अन्य के कर्मों का फल नहीं भोगना पडता है । भ. महावीर कहते हैं कि ''मोक्षप्राप्ति ज्ञान और क्रिया दोनों से होती है, अकेली क्रिया से या अकेले ज्ञान से मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती ।''

'समवसरण' का 'सूत्रकृतांग' में प्रतिबिम्बित अर्थ जो 'वाद-संगम' है उसका पूरा चित्रण ही हमारे सामने आता है । इसमें तत्कालीन करीब करीब सभी वादों का या मतों का यहाँ जिक्र किया गया है । महावीर के बाद भी कई नये दर्शनों का निर्माण हुआ है जैसे ईसाई, ईस्लाम, सिक्ख आदि । फिर भी आज के विज्ञानयुग में भी जैन दर्शन का स्थान अक्षुण्ण, अबाधित है । अपनी तर्कशुद्धता, सैद्धान्तिकीकरण और समन्वयता इन गुणों के कारण जैन दर्शन ने पूरे विश्व में अपना अलग स्थान प्राप्त कर लिया है ।

'समवसरण' का मूल अर्थ 'तत्त्वचर्चा' या 'धर्मचर्चा' है । इससे 'समवसरण'सम्बन्धी काल्पनिक, अद्‌भुत, रम्य, भ्रान्त धारणा का निराकरण होता है और वास्तववादी, तत्त्वाधार की मजबूत नींवपर खडा, तर्कशुद्ध जैन दर्शन को ऐसे अद्‌भुतरम्यता की जरूरत ही नहीं है ।

◆◆◆

(१५) सूत्रकृतांग में श्रुतधर्म

सूत्रकृतांग-लेखमाला (लेखांक ३) : जैन जागृति मासिकपत्रिका

व्याख्यान : डॉ. नलिनी जोशी

शब्दांकन : सौ. चंदा समदडिया

भगवान महावीर निर्वाण के पश्चात् आचार्य सुधर्मा स्वामी के पास आर्य जम्बू स्वामी ने 'संयम' ग्रहण किया । तत्कालीन समाज में भ. महावीर के अनुयायियों की तरह बौद्ध, सांख्य, आजीवक आदि श्रमण परम्परानुयायी और ब्राह्मण परम्परानुयायी कई भिक्षु काफी तादात में यत्र-तत्र नजर आते थे । हिंसा-प्रधान वैदिक धर्म की जनमानस पर गहरी छाप थी । फिर भी सूक्ष्म अहिंसा सिद्धान्त पर आधारित सबसे अलग जीवनशैली, वेशभूषा, खानपान, रहनसहन आदि के कारण जैन साधु-साध्वियों की अपनी अलग पहचान थी । अनायास आम समाज को तथा अन्य तीर्थियों को यह जिज्ञासा होती थी कि 'केशलुंचन, पैदल विहार, उग्र तपस्या आदि अत्यन्त कठोर आचरणवाला ऐसा कौनसा धर्म और मार्ग इनके धर्मनेता ने बताया है ?' यही जिज्ञासा 'सूत्रकृतांग' के 'धर्म और मार्ग' अध्ययन में जम्बू स्वामी ने आ. सुधर्मा स्वामी के पास प्रकट की है ।

आ. सुधर्मा स्वामी ने योग्य शिष्य और योग्य अवसर देखकर भ. महावीर द्वारा प्ररूपित चक्षुर्वैसत्यम् धर्म का स्वरूप समझाया । सुधर्मा स्वामी कहते हैं, ''केवलज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतरागी पुरुष सम्पूर्ण वस्तु स्वरूप को यथातथ्य देखते हैं, जानते हैं और उसी सत्यस्वरूप की प्ररूपणा करते हैं । ऐसा सत्य प्रतीति पर आधारित, सर्वोत्तम, शुद्ध धर्म बहुत दुर्लभ है । वह यत्र तत्र नहीं मिलता ।'' इससे स्पष्ट होता है कि अन्यमतावलम्बी लोग केवलज्ञान या सर्वज्ञता को नहीं

मानते थे । ऋजुता की ओर ले जानेवाला, माया प्रपंच से रहित अत्यन्त सरल ऋजु धर्म यहाँ भ. महावीर ने बताया है ।

'धर्म' का स्वरूप समझने के लिए प्रत्यक्षदर्शी महावीर का बताया हुआ वस्तुस्वरूप समझना जरूरी है । 'मार्ग' अध्ययन की गाथा क्र. ७/८ के अनुसार जीव स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है – सृष्टि में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय यह पाँच 'स्थावर' या एकेन्द्रिय जीव है और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय यह चार 'त्रस' ऐसे षट्जीवनिकाय सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं । इनके अतिरिक्त संसार में अन्य जीव-निकाय या जीव नहीं है । यह 'स्थावर जीव' संकल्पना केवल जैन दर्शन की ही देन है । अन्य दर्शनों ने पृथ्वी, अप् आदि पाँच को जड, प्रकृति-रूप पंचमहाभूत माना हैं ।

आगे सुधर्मास्वामी महावीर प्ररूपित पृथ्वीकायिक इत्यादि का स्वरूप बतलाते हैं । पृथ्वी जिनकी काया है, ऐसे पृथक पृथक अस्तित्ववाले असंख्यात जीवों का पिण्ड पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं । इसके अलावा पृथ्वी के आश्रित असंख्यात त्रसादि जीव भी होते हैं । ऐसा ही अन्य चार स्थावर, एकेन्द्रिय के बारे में जानना चाहिए । ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' उक्ति के अनुसार सभी जीवों का जीवन एकदूसरे पर निर्भर होता है । सभी जीवों की चेतना एवं सुखदु:खानुभूति समान होती है । सभी को सुख प्रिय और दु:ख अप्रिय है । सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता ।

अब कर्मबन्ध का स्वरूप बताते हुए सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि 'कोई किसी भी जाति या कुल में उत्पन्न हुआ हो, जब तक वह आरम्भ (हिंसा), परिग्रह का त्याग नहीं करता तब तक उसे कर्माश्रव होता है और जब तक कर्माश्रव होता है तब तक वह अपने दु:खों का अन्त नहीं करता ।' इसलिए

बुद्धिमान पुरुष को इन षट्जीवनिकाय जीवों को हर प्रकार से, सब युक्तियों से जानकर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। यही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। 'मार्ग' अध्ययन में गाथा क्र. १०, ११ में 'धर्म' का सार इस प्रकार बताया है - ''किसी भी जीव की हिंसा मन-वचन-काया से नहीं करना यह 'अहिंसा-सिद्धान्त' जिसने जान लिया उसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का सार पा लिया।'' और यही मोक्ष प्राप्ति है, यही 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' है। इस तरह भ. महावीर ने अखिल मानव जाति के आत्म कल्याण का मार्ग एवं धर्म बताया।

इस धर्मपालन का अधिकारी सिर्फ गर्भज, कर्मभूमिज मनुष्य ही है। 'आदानीय' अध्ययन में गाथा क्र. १७, १८ के अनुसार चारों गतियों में मनुष्यगति प्राप्त होना दुर्लभ है। मनुष्यभव मिलकर भी सम्यक्त्वप्राप्ति, उसके योग्य अंत:करण-परिणति, धर्मप्राप्ति के अनुकूल लेश्याप्राप्ति, ये सारी बातें उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। यह सब जानकर कई ज्ञानी पुरुष, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञानपूर्वक चारित्रपालन या संयमपालन करके पूर्व संचित कर्मों का सामना करके उन्हें पराजित करते हैं और नवीन कर्मबन्ध नहीं करते, तब आत्मा सर्वथा निष्कर्म होकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है।

'आदानीय' अध्ययन में गाथा क्र. २०-२२ के अनुसार परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त, स्व-स्वरूप प्राप्त आत्मा मोक्षप्राप्ति के बाद फिर से जन्म नहीं लेती। क्योंकि जन्म लेने का या संसार का कर्मरूप कारण ही पूर्णत: नष्ट होने से जन्म-मरणरूप संसार भी नष्ट हो जाता है। जब कि 'आदानीय' अध्ययन में गाथा क्र. ७ में बताया है कि, वैदिक, आजीवक आदि अन्य मतावलंबियों

का मानना है, कि ''कुछ कारण विशेष से या अपने धर्म में हानि होती देख 'धर्मसंस्थापनार्थाय' ऐसी मुक्त आत्मा फिर से जन्म लेती हैं । उन्हें अवतार कहते हैं ।'' इस तरह ''धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वाऽवि ण कुव्वति ।'' ऐसे पूर्वसंचित द्रव्य कर्म से पुनः भावकर्म और भाव कर्म से पुनः द्रव्यकर्म यह चक्र रुक जाता है । यही 'मोक्षप्राप्ति' है ।

इस प्रकार के संयमपालन को महावीर ने 'शल्यकर्तन' कहा है । भवरोग से ग्रसित सभी प्राणियों को रोगमुक्ति के लिए महावीर जैसे कुशल वैद्य ने यह 'शल्यकर्तन' अर्थात् संयम मार्ग का उपदेश दिया है । यही श्रुत-चारित्र धर्म है, जिसमें कषाय, विषयसेवन, कामभोगासक्ति, सुखाभिलाषा, प्रमाद इत्यादि का पूरा परहेज करना पडता है ।

'सूत्रकृतांग' में चारित्र धर्म-पालन का भी पूरा ब्यौरेवार वर्णन मिलता है, जिसके आधार से उत्तरवर्ति आचार्यों ने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन जैसे साधु-साध्वियों के आचार-प्रधान ग्रन्थों की रचना की होगी ऐसा अनुमान किया जा सकता है ।

भ. महावीर ने अपनी सत्यप्रज्ञा से समीक्षा करके हमें जो स्व-पर कल्याणकारी अहिंसामूलक धर्म एवं मार्गरूपी रत्न सौंपे हैं, वे आज भी सूत्रकृतांगादि प्राचीन आगमों के रत्न करंडकों में सुरक्षित हैं । इस हमारी अनमोल धरोहर को हमें हृदयंगम करना चाहिए । यथाशक्ति हमें यह जनमानस तक पहुँचाने का प्रयास करना चाहिए । तभी हम महावीर प्ररूपित धर्म एवं मार्ग के प्रति सच्चा न्याय कर पायेंगे ।

◆◆◆

(१६) सूत्रकृतांग में 'गुरुकुलवास' एक आदर्श शिक्षा-प्रणाली

सूत्रकृतांग-लेखमाला (लेखांक ४) : जैन जागृति मासिकपत्रिका

व्याख्यान : डॉ. नलिनी जोशी

शब्दांकन : सौ. चन्दा समदडिया

प्राय: सभी जैन दर्शनग्रन्थों में श्रुतधर्म पर आधारित अहिंसात्मक आचारप्रणाली का विशद वर्णन मिलता है । सूत्रकृतांग भी इसका अपवाद नहीं है । इसके अलावा सूत्रकृतांग का 'ग्रन्थ' अध्ययन, आदर्श शिक्षाप्रणाली का उत्तम नमूना है । इस दृष्टि से सूत्रकृतांग का विशेष महत्त्व है ।

अध्ययन का शीर्षक 'ग्रन्थ', यह जैन पारिभाषिक शब्द, ममत्व या परिग्रह इसी अर्थ से प्रयुक्त किया गया है । विद्या प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले हर विद्यार्थी को ग्रन्थ से निर्ग्रन्थ या ग्रन्थी बनाने की प्रक्रिया का विशद वर्णन यहाँ किया गया है ।

गाथा क्र. १ में 'गुरुकुलवास' के लिए 'ब्रह्मचर्य' शब्द प्रयुक्त किया है । 'ब्रह्मचर्य' शब्द के तीन अर्थ होते है । भारतीय सभी दर्शनों में ज्ञान प्राप्ति के लिए 'ब्रह्मचर्य पालन' अत्यन्त अनिवार्य माना गया है । वैदिक परम्परा में 'गुरुकुलवास' की अवस्था को ही 'ब्रह्मचर्याश्रम' कहा है ।

'सूत्रकृतांग' के अनुसार गुरुकुलवास दो प्रकार का है -

१) दीक्षा अर्थात् 'आजीवन गुरुकुलवास' ।

२) शिक्षाप्राप्ति हेतु कुछ समय के लिए गुरुकुलवास ।

इसलिए गुरु या आचार्य भी दो प्रकार के कहे हैं-१) दीक्षा दाता २) शिक्षा दाता अर्थात् शास्त्र पाठ की वाचना देकर सामाचारी एवं परम्पराओं का ज्ञान

सिखानेवाले गुरु । ऐसे श्रुत पारगामी आचार्य ज्ञान परम्परावाहक भावी शिष्य को बाह्याभ्यन्तर 'ग्रन्थ' का स्वरूप समझाकर ग्रन्थियों को क्षीण करने का अभ्यास कराते हैं । जिससे शिष्य को पूरी तरह से ग्रन्थमुक्त होकर निर्ग्रन्थ अवस्था तक पहुँचाया जाता है । इस तरह शिष्य को मोक्षाधिकारी बनाया जाता है । ऐसे कुशल आचार्य ओजस्वी, तेजस्वी, गीतार्थ, पारगामी इ. गुणों के धारक होते हैं ।

गुरुकुलवास में रहनेवाले शिष्य के लिए कौनसे आवश्यक गुण या योग्यताएँ होना जरूरी हैं उनका भी यहाँ विस्तृत वर्णन है । 'गुरुकुलवास' में जाति वर्ण की उच्चनीचता भेदभाव से रहित अनेक विद्यार्थियों का एक संघ होता है और संघ अनुशासन से ही चलता है । इसलिए (गाथा क्र. ७ से १२ तक) कठोर अनुशासनपालन के लिए आवश्यक होती है 'सहनशीलता', इसलिए सहनशीलता बढाने का उपदेश दिया है । इसके अलावा शिष्य को विनयशील, इच्छारहित, चतुर एवं अप्रमत्त होना जरूरी है । साथ में शिष्य को आज्ञाकारी भी होना चाहिए। सहनशीलता के अभाव में या वृथा आत्मविश्वास के कारण अपरिपक्व अवस्था में गुरुकुलवास को छोडनेवाले शिष्य की हालत 'नवजात, शक्तिहीन पक्षी शिशु के जैसी, जिसे ढंक आदि प्रबल पक्षी मार डालते हैं ?' वैसी ही होती है ।

गाथा क्र. १३ से १८ में गुरुकुलवास में रहने का फल बताया है, शिष्य को ज्ञानप्राप्ती, धर्म, कर्तव्य का बोध होता है, सहनशीलता, अप्रमत्तता आदि गुणों का वह अभ्यासी होता है । मोहरहित, संयमित जीवन जीने की कला सिखता है । आचरण में निपुणता के साथ साथ नवशालिनी प्रतिभा का पूरा विकास होता है और इस तरह शिष्य सम्पूर्ण परिपक्व अवस्था को प्राप्त होता

है और इसी में 'गुरु' अपने जीवन की 'इति कर्तव्यता मानते हैं ।'

'ग्रन्थ' अध्ययन में अन्तिम १० गाथाओं में गुरु की ज्ञानपरम्परा को अग्रेसर करनेवाला शिष्य कैसे तैयार किया जाता है इसका अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में विवेचन किया है । आदर्श प्रवक्ता के लक्षण एवं आदर्श गुरु के निकष भी यहाँ बताये हैं, जो सार्वकालिक, मार्गदर्शक एवं अनुकरणीय हैं ।

जीवनोपयोगी सभी विषयों में एवं आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक इ. सभी विषयों में निष्णात 'गुरु' ही शिष्य के लिए एक आदर्श शिक्षा-संस्था होती है । इसलिए गुरु के लिए भी एक कसौटी ही होती है । गुरु को हरपल सावधान रहकर सिद्धांतोचित व्यवहार ही करना होता है । इसके अलावा गुरु पारदर्शी हो, कथनी-करनी में समान हो । तथा शिष्य के हर शंका का समाधान, संशोधन करके, सोच-विचार करके ही देना चाहिए । कालानुरूप हर विषय की जानकारी गुरु को होनी चाहिए । गुरु बहुश्रुत होना चाहिए । इस तरह गुरु कैसा होना चाहिए यह बताकर अब प्रवक्ता की भाषा कैसी हो यह भी यहाँ बताया है।

ज्ञानदान का माध्यम है भाषा । इसलिए गुरु को भाषा का विशेष ध्यान रखना चाहिए । उच्चारण शुद्ध हो, शास्त्रार्थ को छिपाना नहीं चाहिए । शास्त्र से अधिक या विपरीत प्ररूपणा नहीं करनी चाहिए । गुरु को अहंकार या दूसरों का परिहास नहीं करना चाहिए । द्रव्य, क्षेत्र, भाव के अनुसार स्याद्वाद से ही बोलना चाहिए । सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग करें । विद्यार्थियों की क्षमता, पात्रता इ. ध्यान में लेकर उनकी मति के अनुसार दृष्टांत देकर समझाना चाहिए । वक्तृत्व के दौरान विषय के संक्षेप, विस्तार का भी विवेक रखना चाहिए । गुरु संतुष्ट होकर किसी की भौतिक उन्नति हेतु आशीर्वाद न दे या क्रोध में आकर किसी के लिए अपशब्द भी न कहें । वैसे भी जैन दर्शनानुसार

कर्मसिद्धान्त के फलविपाक में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता ।

इन सब निकषों से विद्यादान करते करते गुरु या आचार्य को स्वयं भी आत्मविकास की साधना करनी चाहिए । आदर्श गुरु या शिक्षक के निकष जो भगवान महावीर ने आज से २६०० वर्ष पूर्व बताये हैं, ये सारे निकष आज भी आदर्श शिक्षक या उत्कृष्ट प्रवक्ता के लिए ज्यों कि त्यों लागू होते हैं । भाषा के माध्यम से चलनेवाले हर क्षेत्र में जैसे स्कूल या महाविद्यालय, मिडिया, दूरदर्शन, रेडिओ आदि सबके लिए ये उपयुक्त बातें बहुत मायने रखती हैं । अगर 'ग्रन्थ' अध्ययन में बताये हुए इन अध्ययनक्षेत्र के निकषों पर अंमल किया जाय तो, 'आदर्श शिक्षा व्यवस्था' का यह उत्तम उदाहरण पूरे विश्व के लिए वरदान साबित होगा जिसकी आज निहायत जरूरत है ।

◆◆◆

सूत्रकृतांग – विविध आयाम

(श्रुतस्कन्ध २)

अनुक्रमणिका

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ क्र.
	१) सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रस्तावना		१४५
	२) सूत्रकृतांग : विद्यार्थियों के विचार – उन्मेष (प्रास्ताविक और निबन्धसूचि)		१४७
१)	गुन्हेगारी जगत् आणि क्रियास्थान	अनीता बोथरा	१५१
२)	सूत्रकृतांगात निर्दिष्ट 'पापश्रुत' (अर्थात् मंत्र, तंत्र, अद्भुतविद्या)	अनीता बोथरा	१६०
३)	आजची जैन जीवनपद्धती व वनस्पतिसृष्टी	अनीता बोथरा	१६६
४)	सूत्रकृतांगातील वनस्पतिसृष्टी व सद्य:स्थिती	अनीता बोथरा	१७३
५)	सूत्रकृतांगातील प्रत्याख्यानाचे स्वरूप	अनीता बोथरा	१८१
६)	'लेप' गृहपति : एक आदर्श श्रावक	संगीता बोथरा	१८८
७)	सूत्रकृतांग में प्रतिबिम्बित सामाजिक अंश	कुमुदिनी भंडारी	१९१
८)	आचारश्रुत अध्ययन–एक चिन्तन	सुमतिलाल भंडारी	१९५
९)	सूत्रकृतांगाचे दोन श्रुतस्कंध : तौलनिक विचार	रेखा छाजेड	१९९
१०)	सूत्रकृतांगाच्या द्वितीय श्रुतस्कंधाचे सार	शकुंतला चोरडिया	२०२
११)	हस्तितापसांना यथोचित उत्तर	साधना देसडला	२०६

१२)	सद्य:कालीन परिप्रेक्ष्य में सूत्रकृतांग	मंगला गोठी	२०९
१३)	अद्दगस्स कहाणयं	आशा कांकरिया	२११
१४)	हस्तितापस के मत का सम्भाव्य खण्डन	संगीता मुनोत	२१३
१५)	अप्रत्याख्यान आणि प्रत्याख्यान : एक चिंतन	कल्पना मुथा	२१६
१६)	सूत्रकृतांग (२) : काही विशेष व्यक्तिरेखा	ज्योत्स्ना मुथा	२२०
१७)	सूत्रकृतांग (२) : एक संपूर्ण आगम	हंसा नहार	२२३
१८)	सूत्रकृतांग (२) : एक चिंतनसप्तक	अर्जुन निर्वाण	२२७
१९)	मला भावलेले आचारश्रुत	लीना संचेती	२३०

◆◆◆

.१.

सूत्रकृतांग - द्वितीय श्रुतस्कन्ध - प्रस्तावना

अर्धमागधी आगम ग्रंथों के ग्यारह अंग मौलिक रूप में भ. महावीर द्वारा प्रस्तुत और गणधर द्वारा संकलित हैं । स्वसमय और परसमय का विवेचन करनेवाला आगमग्रंथ 'सूत्रकृतांग' है ।

द्वितीय श्रुतस्कंध में कुल सात अध्ययन हैं । पाँचवा और छठा अध्ययन छोडकर सब गद्यसूत्रों में शब्दबद्ध हैं । इस द्वितीय श्रुतस्कंध के अध्ययन उद्देशकों में विभक्त नहीं है । भाषा, शब्दप्रयोग और रचनाशैली की दृष्टि से सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कंध प्राचीन प्रतीत होता है । उसकी तुलना में द्वितीय श्रुतस्कंध अर्वाचीन है । प्रथम श्रुतस्कंध की रचना सुधर्मा स्वामी की है । अत: उसका काल ईसवीपूर्व ५ वी शताब्दी होना चाहिए । द्वितीय श्रुतस्कंध के रचनाकार के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है । आचार्य महाप्रज्ञ के मतानुसार द्वितीय श्रुतस्कंध की रचना ईसवीपूर्व २ री शताब्दी के आसपास होनी चाहिए ।

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध की विषयवस्तु

	अध्ययन	स्वरूप	सूत्रसंख्या	विषय
१)	पोंडरीय (पुण्डरीक)	गद्य	३१	पुण्डरीक कमल का दृष्टान्त। सदाचारी संयमी पुरुष का उद्धारक होना ।
२)	किरियाठाण (क्रियास्थान)	गद्य	४८	कर्मबन्ध और मोक्ष के कारणभूत क्रियाओं का प्रतिपादन ।

३)	आहारपरिण्णा (आहारपरिज्ञा)	गद्य	२९	एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के आहार का विवेचन ।
४)	पच्चक्खाणकिरिया (प्रत्याख्यानक्रिया)	गद्य	११	अठारह पापों के प्रत्याख्यान करने या न करने से लाभ और हानि ।
५)	आयारसुय (आचारश्रुत)	पद्य	३३	आचार और अनाचार का प्रतिपादन ।
६)	अद्दइज्ज (आर्द्रकीय)	पद्य	५५	आर्द्रककुमार का विविध मतावलंबियों से संवाद तथा शुद्ध संयममार्ग में दीक्षित होना ।
७)	नालंदइज्ज (नालन्दीय)	गद्य	४०	नालन्दा उपनगर में पार्श्वापत्यीय श्रमण उदक तथा गौतम गणधर में वार्तालाप ।

◆◆◆

.२.

सूत्रकृतांग-विद्यार्थियों के विचार - उन्मेष

प्रास्ताविक

साम्प्रत काल में किसी भी ज्ञानशाखा की पदवी या पदव्युत्तर पदवी प्राप्त करने का तरीका बदल गया है । हर एक विद्यार्थी को सालभर किये हुए अध्ययन पर आधारित 'प्रेझेंटेशन' देना पडता है । हमने सोचा कि, जब हम आगमों का अध्ययन पूरे शैक्षणिक स्तर पर कर रहे हैं तब हर एक विद्यार्थी को चाहिए, कि वह लगभग दस मिनिटों का एक प्रेझेंटेशन सबके सामने करें । सन्मति-तीर्थ संस्था में आकर, सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों ने १३ एप्रिल २०१३ को अपने लघुनिबन्ध पढे ।

एक ग्रन्थ की ओर देखने के कितने सारे दृष्टिकोण हो सकते हैं यह तथ्य निम्नलिखित सूचि से उजागर होगा -

सूत्रकृतांगपर (२) पर आधारित लघुनिबन्धों की विषयसूचि

१)	प्रत्याख्यानक्रिया व 'नालंदीय' मधील प्रत्याख्यान	बागमार चंद्रकला
२)	मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान	बागमार लता
३)	मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान (सद्य:कालीन दृष्टिकोणातून)	बागमार प्रकाश
४)	आया अपच्चक्खाणी-विशेष स्पष्टीकरण	बागमार स्मिता
५)	'आचारश्रुत' अध्ययन का मुख्य आशय	बेदमुथा श्यामल
६)	मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान	बोथरा कमल
७)	'लेप' गृहपति : एक आदर्श श्रावक	बोथरा संगीता

८)	प्रत्याख्यान का, कशाचे व कोण करू शकतो ?	बोरा पुष्पा
९)	आया अपच्चक्खाणी : भावार्थ	भंडारी अनिल
१०)	सूत्रकृतांग में प्रतिबिम्बित सामाजिक अंश	भंडारी कुमुदिनी
११)	'लेप' नामक गृहपति : एक आदर्श श्रावक	भंडारी सरला
१२)	आचारश्रुत अध्ययन : एक चिंतन	भंडारी सुमतिलाल
१३)	हिंसादण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान	भंडारी सुनीता
१४)	आचारश्रुत अध्ययनाचा मुख्य विषय	भन्साळी संतोष
१५)	सूत्रकृतांग (२) में प्रतिबिम्बित सामाजिक अंश	भन्साळी सुविता
१६)	'आचारश्रुत' अध्ययनाचा सारांश	भटेवरा विमल
१७)	मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान	भटेवरा कमला
१८)	'आया अपच्चक्खाणी' सूत्र का भावार्थ	भटेवरा पुष्पा
१९)	अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान	भटेवरा उज्ज्वला
२०)	गोशालक के आक्षेप-आर्द्रक के जवाब	भटेवरा विमल
२१)	गोशालक के आक्षेप-आर्द्रक के जवाब	भुरट शशिकला
२२)	आर्द्रक-गोशालक : सवाल-जवाब	छाजेड भगवानदास
२३)	आहारपरिज्ञा और पिण्डैषणा	छाजेड रेखा
२४)	सापेक्षतावाद : सूत्रकृतांग की दृष्टि से	चोपडा मंजु
२५)	'पुण्डरीक' अध्ययन में खण्डन-मण्डन	चोरडिया मधुबाला
२६)	सूत्रकृतांगाच्या द्वितीय श्रुतस्कंधाचे सार	चोरडिया शकुंतला
२७)	आर्द्रक-गोशालक : आक्षेप व समाधान	डागलिया लता
२८)	हस्तितापसांना यथोचित उत्तर	देसडला साधना

२९) मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान	धोका अनीता
३०) 'आचारश्रुत' अध्ययनाचा विषय	गुंदेचा शोभा
३१) सद्य:कालीन परिप्रेक्ष्य में सूत्रकृतांग	गोठी मंगला
३२) 'प्रत्याख्यानक्रिया' अध्ययन का महत्त्व	कर्नावट कमल
३३) प्रत्याख्यान का महत्त्व	कर्नावट सविता
३४) सूत्रकृतांग (२) मध्ये प्रतिबिंबित सामाजिक अंश	कटारिया संगीता
३५) अद्दगस्स कहाणयं	कांकरिया आशा
३६) 'आया अपच्चक्खाणी' सूत्र का भावार्थ	कांकरिया निर्मला
३७) प्रत्याख्यान क्यों करना चाहिए ?	केमकर शकुंतला
३८) सूत्रकृतांग और मुण्डकोपनिषद : एक तुलना	कुलकर्णी मनीषा
३९) अनेकान्तवाद : आक्षेप, मर्यादा व समाधान	कोठारी चंचला
४०) प्रत्याख्यानक्रिया आणि 'नालंदीय'मधील प्रत्याख्यान	खणसे पारमिता
४१) सूत्रकृतांग (२) के अध्ययनों का विषयानुसारी महत्त्व	खिंवसरा अरुणा
४२) 'आया अपच्चक्खाणी' सूत्र का भावार्थ	खिंवसरा मीनल
४३) आदर्श श्रावक	ललवाणी प्रतिभा
४४) सूत्रकृतांग (२) : एक अनुचिंतन	लुंकड कमला
४५) प्रत्याख्यानक्रिया	लोढा मदन
४६) सूत्रकृतांग (२) अध्ययनांचे विषयानुसारी महत्त्व	लोढा शोभा
४७) गाथापति-चोर-विमोक्षण न्याय	मालु बालचंद
४८) आर्द्रक और शाक्यभिक्षु का वार्तालाप	मुनोत सविता
४९) हस्तितापस के मत का संभाव्य खण्डन	मुनोत संगीता

५०) सूत्रकृतांग (२) के अध्ययनों का विषयानुसारी महत्त्व	मुथा अनीता
५१) अप्रत्याख्यान आणि प्रत्याख्यान : एक चिंतन	मुथा कल्पना
५२) सूत्रकृतांग (२) : काही विशेष व्यक्तिरेखा	मुथा ज्योत्स्ना
५३) आर्द्रक-गोशालक के आक्षेप और समाधान (सवाल-जवाब के रूप में)	नहाटा संगीता
५४) सूत्रकृतांग : एक संपूर्ण आगम	नहार संगीता
५५) सूत्रकृतांग (२) : एक चिंतनसप्तक	निर्वाण अर्जुन
५६) आर्द्रकाचे गोशालकाला उत्तर	ओसवाल ललिता
५७) वनस्पतिविचार : जैन दर्शनाच्या संदर्भात	पारख सुरेखा
५८) प्रत्याख्यानक्रिया	पोकरणा लीलावती
५९) 'आचारश्रुत' अध्ययन का महत्त्व	शहा जयबाला
६०) प्रत्याख्यान : एक आवश्यक	शिंगवी पुष्पा
६१) 'पुण्डरीक' अध्ययनात स्वमताचे मंडन	शिंगवी रंजना
६२) 'आचारश्रुत' का मुख्य आशय	शेटिया राजश्री
६३) 'आचारश्रुत' अध्ययन का महत्त्व	श्रीश्रीमाळ ब्रिजबाला
६४) पद्यमय 'आर्द्रकीय' अध्ययन	समदडिया चंदा
६५) मला भावलेले आचारश्रुत	संचेती लीना
६६) आया अपच्चक्खाणी : भावार्थ	सुराणा सीमा
६७) आर्द्रक-गोशालक संवाद	सोलंकी वैभवी

●●●

(१) गुन्हेगारी जगत् आणि क्रियास्थान

व्याख्यान : डॉ. सौ. नलिनी जोशी

शब्दांकन : डॉ. सौ. अनीता बोथरा

दूरदर्शनवर 'क्राइम पेट्रोल', 'सावधान इंडिया', 'लक्ष्य' इ. कार्यक्रम बघताना मन अगदी खिन्न होतं, बेचैन होतं, दुःखी होतं आणि खोल मनात एक विचार तरंगतो की, 'खरंचच ! हा अवसर्पिणी कालचक्राचा 'दुखमा आरा' आहे'. किडनॅपिंग, रेप, खून, चाइल्ड ॲब्यूजमेंट, बाबा भोंदूगिरी, ह्युमन ट्रॅफिक, सायबर-कॅफे-क्राइम, खंडणी इ. अनेक गुन्ह्यांच्या दर्शनानं मन हादरून जाते. विचार येतो - अरेरे ! अनेक प्रकारच्या दुःखांनी हे जग गच्च भरलं आहे. लहान बालकापासून ते वृद्ध व्यक्तींपर्यंत प्रत्येकजण कोणत्या ना कोणत्या प्रकाराने शोषित होत आहे, पीडित होत आहे आणि चिंतन सुरू होते की - आपण भ. महावीरांच्या समयीच जन्माला आलो असतो तर किती बरे झाले असते ! अशा प्रकारचे क्राइम ना पहावयास मिळाले असते, ना लोक त्या क्राइमचे बळी झाले असते. 'सत्यं, शिवं, सुंदरं' अशा जगाचा आपणही आस्वाद घेतला असता.

पण वास्तविकता अशी नाही -

सूत्रकृतांगातील (सूत्रकृतांग श्रुतस्कंध २, अध्ययन २) १३ क्रियास्थानांचे वर्णन वाचताना, 'वर्तमानात चालू असलेली गुन्हेगारीची झळ कमी आहे की काय ?' असे वाटू लागते. उत्तराध्ययनसूत्र (३१.१२), आवश्यकसूत्र (तेहतीस बोल), तत्त्वार्थसूत्र (६.६) इ. ग्रंथातही अशा प्रकारच्या क्रियास्थानांचे वर्णन आहे. त्या सर्वांचे मूळ सूत्रकृतांग आगमात सापडते.

याचाच अर्थ असा की भ. महावीरांच्या वेळी सुद्धा सुष्ट-दुष्ट, सज्जन-दुर्जन, चांगल्या-वाईट प्रवृत्ती होत्या. त्यांनी यथाशक्य लोकांना सदुपदेश

देण्याचा प्रयत्न केला. हिंसेच्या जगात भ. महावीरांनी प्रकाशाचा झोत टाकून, समाजापासून ते वैयक्तिक मनातल्या द्वंद्वापर्यंत दर्शन करविले. आपण आपल्या कल्पनाशक्तीनेही जितक्या हिंसक विषयांना स्पर्श करू शकलो नसतो त्याहून अधिक-सामाजिक, राजकीय, कौटुंबिक, आर्थिक, धार्मिक, वैयक्तिक अशा अनेक प्रकारच्या गुन्ह्यांचे, त्या काळी भ. महावीरांनी आपल्या उपदेशाच्या माध्यमातून, क्रियास्थानांच्या रूपाने, प्रत्यक्ष स्वरूपच आपल्यासमोर वर्णिले.

हिंसेमागील प्रेरणा, त्यासाठी केली गेलेली प्रवृत्ती व त्याचे होत असलेले परिणाम अशा तीन मुद्यांना स्पर्श करणारा उपदेश त्यांनी दिला. अभ्यासातून असे लक्षात आले की त्यावेळचे गुन्हे आणि आत्ता होत असलेले गुन्हे, यात काही मोठा फरक नाही. वैयक्तिक दृष्ट्या माणूस निराशेत जाऊन कशी आत्महत्या करतो इथपासून ते थेट समाजात राहून नाती-परिवारासाठी इतरांचीही कशी पिळवणूक करतो येथपर्यंत-अशा सर्व प्रकारच्या विचारांनी भरलेली ही क्रियास्थाने आहेत. दूरदर्शनवर सुद्धा जितकी विषयांची विविधता नसेल तितकी विविधता भ. महावीरांनी क्रियास्थानांच्या द्वारे निदर्शनास आणून दिली आहे. स्वत:च अधिक सुखात असावे, मी सर्वांवर सत्ता चालवावी, माझ्या कामवासनेची पूर्ती व्हावी, खूप पैसे मिळवावेत ही त्या सर्व क्रियास्थानांमागची प्रेरणा आहे व त्यासाठी अवलंबिलेले खालील वेगवेगळे हिंसक मार्ग आहेत.

* पारिवारिक कुशलतेसाठी, नाती-गोती-परिवार-मित्रमंडळी यांच्या भल्यासाठी, भरभराटीसाठी, देवीदेवतांसाठी - अनेक प्रकारच्या जीवांची हिंसा म्हणजे 'अर्थदंड' व परिणामस्वरूप पापकर्मांचा बंध.
* स्वत:साठी व दुसऱ्यासाठी, कोणतेही प्रयोजन नसताना विनाकारण - म्हणजे ना ही शरीरासाठी, ना ही उपजीविका म्हणून, ना ही पुत्र-पत्नी-

पशु इ. च्या पोषणासाठी, ना घराच्या संरक्षणासाठी, ना प्राण्याच्या रक्षणासाठी.

पण तरीही वनस्पतींचे छेदन-भेदन करणे, आग लावणे, प्राण्यांची चामडी काढणे, डोळे उखडणे, उपद्रव करणे इ. द्वारा जीवांना विना प्रयोजन शिक्षा देणे म्हणजे 'अनर्थदंड' व परिणामस्वरूप वैराचा बंध.

* आपण मारले जाऊ किंवा आपले संबंधी मारले जातील या भीतीने विषारी सर्प, व्याघ्र, सिंह, विंचू इ. प्राण्यांना तसेच क्रूर, हिंसक वृत्तीच्या माणसांनाही, त्यांची काहीही चूक नसताना 'तो हिंसक आहे', असे समजून व 'स्वत:ला भीती वाटते' म्हणून त्यांना दंड देणे, मारणे म्हणजे 'हिंसादंड' व परिणामस्वरूप पापकर्माचा बंध.

* आपल्या उपजीविकेसाठी जर कोणी शिकार करत असेल व तो मृगाच्या शिकारीसाठी गेला असताना, जाता-जाता वाटेत दिसणारे कबूतर, चिमणी, माकड इ. प्राण्यांना विनाकारण मारत असेल किंवा जर शेती करत असेल तर शेती करताना इतर वनस्पतींचे अचानक छेदन-भेदन होणे म्हणजे 'अकस्मात्‌दंड' व परिणामस्वरूप पापकर्मांचा बंध.

या अकस्मात्‌दंडाचे वर्तमानस्वरूप असे आहे की एखाद्या गुन्हेगाराला गुन्हा करताना कोणी पाहिल्यास, तो साक्ष देऊ नये म्हणून त्याला मारणे किंवा एखाद्याला मारताना त्याच्या वाटेत जे-जे येतील त्यांना उडविणे.

* आई-वडील, भाऊ-बहीण, पत्नी-पुत्र-कन्या असे सर्वांनी मिळून एकत्र कुटुंबात राहणे व आपल्याच कुटुंबातील लोकांना शत्रू समजून मारणे.

अथवा गावात, नगरात, शहरात लूट, चोरी होत असताना जो लुटारू अथवा चोर नसतो त्याला तसे समजून मारणे म्हणजेच संशयित

हाच गुन्हेगार किंवा एक संपूर्ण जातच गुन्हेगारीसाठी बदनाम (जशी पारधी जमात-चोर जमात म्हणून बदनाम) हा 'दृष्टिविपर्यास दंड' व परिणामस्वरूप पापकर्मांचा बंध

* स्वत:च्या सुखसुविधेसाठी व सर्व काही स्वत:ला प्राप्त व्हावे या वृत्तीने - दुसऱ्याच्या जमिनी, घरे बळकावणे, सरकारच्या पैशावर डल्ला मारणे, जनतेच्या हितासाठी जमा केलेले पैसे स्वत: लुबाडणे, परवानगीशिवाय जास्तखाणी खोदणे, मोठमोठ्या शिक्षणसंस्था उभारून मोठमोठाले डोनेशन्स घेणे, मिनरल वॉटर बनविण्यासाठी पाणी उपसणे अशा अनेक प्रकारे सर्वच देशात, वेगवेगळ्या स्तरावर कृत्रिम व नैसर्गिक दोन्ही प्रकारच्या चोऱ्या व खोटारडेपणा चालू असतो. अदत्तादान व मृषाप्रत्ययाची हे नव्याने सुरू झालेले सर्व प्रकार तेथे सहज जोडता येतील.

हुकूमशाही व राजेशाही सोडून सर्वांच्या हितासाठी लोकशाही आणली तरी पापाचरणाला लगाम नाही. कर्जमाफी, शिक्षण, बचतगट इ. चांगल्या सोयीतही चोऱ्यामाऱ्या चालूच. आजच्या परिप्रेक्ष्येत चालू असलेले हे सर्व गुन्हेगारीचे प्रकार 'मृषाप्रत्ययिक' (झूठ) व 'अदत्तादानप्रत्ययिक' (चोरी) आहेत व परिणाम स्वरूप पापकर्मांचा बंध.

* भ. महावीरांची दृष्टी म्हणजे प्रकाशझोत. जिकडे वळवू तिकडे प्रकाश. हा प्रकाशाचा झोत त्यांनी सामाजिकतेकडून वैयक्तिक आयुष्याकडे फिरविला. बॅटरी स्वत:वर आणली. आपल्या अंतरात्म्यात डोकावून पाहिले. मनातील संक्लेश, खिन्नता, नकारात्मक विचार, चांगल्या-वाईट गोष्टी, सर्व खळबळी इ. मुळे आपले चित्त विनाकारण हीन-दीन-दुर्मनस्क होते. हे 'अध्यात्मप्रत्ययिक' (आत्म्यासंबंधी) क्रियास्थान आहे. त्याचा परिणाम

क्रोध-मान-माया-लोभ वाढत जातात, वाईट-दुष्ट विचार वाढतात, निराशा येते व मजल आत्महत्येपर्यंत पोहोचते.

* अभिमानाने, मदाने, अहंगंड बाळगल्याने-दुसऱ्यांना कमी लेखणे, निंदा करणे, अवहेलना करणे इ. वृत्ती बळावतात. काहीही असताना किंवा काहीही नसताना सुद्धा आपण कशाकशाचा माज करत असतो - श्रीमंतीचा, राजकारणाचा, सत्तेचा, घराणेशाहीचा, रूपाचा, शक्तीचा, त्यातून गुंडगिरीचा, उच्चनीचतेचा, हे सर्व 'मानप्रत्ययिक' आहेत.

अहंगंडाचे आजचे स्वरूप आपल्याला पुढील शब्दात व्यक्त करता येईल. थोडा-अधिक ज्ञानाचा स्वाद जरी घेतला तरी साहित्य संमेलनात, शास्त्रज्ञांच्या समाजात किंबहुना नोबल पारितोषिक मिळविण्यासाठी अनेक 'पुल' लावले जातात व एकमेकांचे पाय ओढले जातात.

क्षेत्र कोणतेही असो, प्रत्येक ठिकाणी मीच पुढे असावे. क्रीडा असो की साहित्य असो की कला असो - 'अहं सेट्ठं' (मी श्रेष्ठ) 'दुइयं कणिट्ठं' (दुसरा कनिष्ठ) ही वृत्ती व परिणामस्वरूप जन्म-मरण चक्रात भ्रमण व विशेषत: नरकगमन.

* आपले प्रभुत्व व आपले स्वामित्व स्थापन करण्यासाठी छोट्यातल्या छोट्या अपराधासाठी मोठ्यात मोठी शिक्षा. कुटुंबात सर्वांनी माझे ऐकावे, संपूर्ण घरादारावर माझाच हुकूम असावा, प्रत्येकाने माझ्याच आज्ञेत रहावे-असा धाक, अशी हिटलरशाही व तशी प्रत्येकाच्या मनात दहशत निर्माण करणे हा भ. महावीरांच्या शब्दात 'मित्रदोषप्रत्यय'होय.

कौटुंबिक हिंसाचाराचे आजचे स्वरूप पुढील शब्दात व्यक्त करता येईल. नवरा कितीही दारूड्या असला व अजिबात कर्तृत्ववान नसला, बायकोच चार घरची कामे करून पोट भरत असली तरी नवऱ्याने बायकोला बडविणे व 'मीच तुझा स्वामी' ही भावना निर्माण करणे.

सासूने-नणंदने सुनेशी भांडण करणे, रॉकेल ओतणे, काड्या टाकणे, वांझ म्हणून एखादीचा अपमान करणे, विधवा म्हणून तिला हिणविणे, ती समोर आल्यास अपशकुन मानणे, घटस्फोट, हुंडाबळी, स्त्रीभ्रूणहत्या हे सर्व कौटुंबिक दोष आहेत. अशा प्रकारे स्त्रियांना चुकीच्या शिक्षा देण्यात स्त्रियांचाच पुढाकार असतो. आईवडिलांना जीव नकोसा वाटणे इथपासून ते सुनेच्या छळापर्यंत. परिणामस्वरूप पारिवारिक क्लेश, दौर्मनस्य व दुर्भावना निर्माण होतात.

* अध्यात्माच्या नावाखाली बुवाबाजी, गंडे-दोरे-ताईत, हिप्नॉटिझम, हातचलाखी इ. द्वारे भक्ताच्या खऱ्या-खोट्या श्रद्धेचा फायदा घेऊन स्वत:ची गैरमार्गाने आजीविका करणे, पैसे कमावणे व त्यासाठी दुसऱ्यांची फसवणूक, लूट, लबाडी, गळा कापणे, आर्थिक व लैंगिक पिळवणूक करणे, हा 'मायाप्रत्ययिकदंड' आहे. असे वागताना त्यांना त्याचा कधीही पश्चात्ताप होत नाही. पापभीरू माणूस थोडा तरी घाबरतो पण अशी फसवेगिरी करणारी माणसे दुसऱ्याला चुकीचे पटवून देण्यात यशस्वी होतात. कोडगे, निगरगट्ट, निर्ढावलेले, हाताबाहेर गेलेले असतात. जे करतात त्यात त्यांना चूक वाटतच नाही. ना पश्चात्तापाची भावना, ना सुधार, ना शल्यरहितता. अशाही मानसशास्त्रीय भावनांचा आविष्कार

येथे दाखविला आहे. परिणामस्वरूप अशी माणसे कपटाकडून अधिकाधिक कपटाकडे वळून दुर्गतिगमन करतात.

* प्रबळ लोभाच्या आहारी जाऊन मंत्र-तंत्र, जारण-मारण विद्या, विविध प्रयोगांचा वापर, करणी, पुत्रप्राप्तीसाठी बळी, लिंगपूजा, जादूटोणा, भानामती, काळीजादू अशा अनेक देवीदेवतांच्या व धर्माच्या नावाखाली अघोरी साधना करणे व आपण गैरकृत्य करत आहोत असे मनातही येऊ न देणे.

  काहीही करून पुत्र हवा, धनाचा हंडा हवा, शत्रूचे वाटोळे व्हायलाच हवे व अशा चुकीच्या गोष्टी साध्य करण्यासाठी कितीही जीवहिंसा करावी लागली तरी चालेल, कोणत्याही रहस्यमय साधनांचा आश्रय घ्यावा लागला तरी चालेल, लैंगिक कामवासना भोगण्यासाठी कितीही निंदनीय काम करावे लागले तरी चालेल. हा 'लोभप्रत्ययिक' आहे. अशा वृत्तींनी वारंवार आंधळे, मुके, बहिरे होण्याची संभावना.

* आता भ. महावीरांनी कॅमेराचा फोकस एकदम बदलला. अरे बंधूंनो ! घाबरू नका. सर्व जग फक्त गुन्हेगारीनेच भरलेले नाही. या जगात चांगले लोक सुद्धा आहेत. आत्मकल्याण करणारेही आहेत. आत्मज्ञानाने चांगले आचरण करणारे लोकही आहेत. अशी माणसे अजिबात बेफिकिरीने वागत नाहीत. दुर्लक्ष करत नाहीत. अप्रमादाने राहतात. निष्पाप क्रिया करतात. काळजीपूर्वक करतात. कशातही त्यांचा अतिरेक नसतो. खाण्यात-पिण्यात-बोलण्यात-झोपण्यात-उठण्यात-बसण्यात सावधानता असते. मर्यादा असते. पापण्यांची सूक्ष्म उघडझाप सुद्धा अगदी होशपूर्वक करतात. ही 'ईर्यापथिक' क्रिया होय व परिणामस्वरूप त्यांच्या पापकर्मांचा बंध होत नाही.

भ. महावीरांनी त्या काळच्या समाजाच्या पार्श्वभूमीवर रेखाटलेले हे चित्र, तिन्ही काळात लागू होईल असे आहे. यात वाढत्या गुन्हेगारीचे १२ आयाम असून प्रत्येक अपप्रवृत्तीचा फोकस हा वेगळा आहे. जणूकाही हे 'सत्यमेव जयते'चेच १३ एपिसोड आहेत. सामाजिक वातावरणात जा, राजकारणात जा, असंस्कृत समाजात जा, घरात जा, मित्रमंडळीत जा किंवा अध्यात्मात जा – निष्पाप सूक्ष्म क्रियेपासून ते जन्मजन्मांतरीच्या तीव्र बंधापर्यंत, वरपासून ते खालपर्यंत, सर्व स्तराचे चांगले-वाईट दर्शन करविले. आदर्शवाद कसा असावा हे महावीरांना माहीत आहे पण 'पूर्ण आदर्शवाद' जगात असणार नाही, हेही त्यांना माहीत आहे. 'सर्व जगत् आर्य, सुसंस्कृत असावे', अशा भोळ्या-भाबड्या आदर्शवादात किंवा चुकीच्या धारणेत भ. महावीर मुळीच नाहीत. जैनांचे कोणतेही तीर्थंकर अशा भ्रमात मुळीच नाहीत की आम्ही उपदेश दिला की जगात जादूच्या कांडीसारखे सर्वत्र सुखद, शांततामय वातावरण निर्माण होईल व तसे असतेच तर देव-मनुष्य या दोनच गती असत्या. नरक-तिर्यंच या दुर्गति अस्तित्वातच नसत्या. अनादिकाळापासून मोक्ष जेवढा सत्य आहे तेवढीच गुन्हेगारीचे हे १२ आयामही आधी, आता व नंतरसुद्धा सत्यच राहणार आहेत. सद्विचार जेवढे खरे तेवढेच दुर्विचारसुद्धा.

गौतम बुद्धासारखे 'सर्वं दुःखं' अशा दृष्टीने जगाकडे पाहणे ठीक नाही. चार्वाकासारखे 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' असेही जगाकडे पाहणे योग्य नाही, वैदिकांप्रमाणे, 'दुष्ट खूप झाले म्हणून अवतार घेऊन त्यांचे निवारण करणेही शक्य नाही.' जैन परंपरेनुसार जग हे सुख-दुःखांचे संमिश्रण आहे व राहणार. चांगल्या-वाईट प्रवृत्ती आधी होत्या व नंतरही

राहणार. अशा जगाचे जसे आहे तसे वास्तविक स्वरूप तीर्थंकर प्रकट करतात, हे त्यांचे ‘सर्वज्ञत्व’ आहे. सर्वांना उपदेश देण्याचे कामही तीर्थंकर करतात. पण तरीही काही जीव स्वत:मध्ये काहीही बदल करत नाहीत. अशा व्यक्तींना लगाम घालणेही शक्य नाही. त्यांनाच जैन परिभाषेत ‘अभवी जीव’ म्हटले आहे.

गुन्ह्यांची एकापेक्षा एक वरचढ रूपे सूत्रकृतांगातील या अध्ययनात नोंदवली आहेत. सत्प्रवृत्तींचे मार्गदर्शनही केले आहे. कोणता मार्ग चोखाळायचा ते व्यक्तीच्या विवेकशक्तीवर सोपवले आहे. त्यांच्या त्रिकालदर्शी प्रज्ञेला प्रणाम !!!

◆ ◆ ◆

(२) सूत्रकृतांगात निर्दिष्ट 'पापश्रुत' अर्थात् मंत्र, तंत्र, अद्भुतविद्या

व्याख्यान : डॉ. सौ. नलिनी जोशी

शब्दांकन : डॉ. सौ. अनीता बोथरा

'इन्स्टंट'चे युग आहे. विचार-विनिमय करायला वेळ नाही. सबुरी नाही. स्वत:वर विश्वास नाही. अधिक पुरुषार्थही करायचा नाही. येणाऱ्या प्रतिकूल परिस्थितीशी ठामपणे लढा देण्याचे मनोबलही नाही. परिणामस्वरूप माणूस कोणाच्या ना कोणाच्या आहारी जातो व आपले आयुष्य कीर्तिसंपन्न, आरोग्यसंपन्न, धनसंपन्न व बुद्धिसंपन्न बनविण्याचे 'इन्स्टंट' उपाय शोधतो.

जसे - आजारी पडलो तर 'छू मंतर' केल्याप्रमाणे, कोणा एकाचा मंत्र, अंगारा, धूपारा मिळाला की त्वरित तंदुरुस्त होण्याची आशा ; गरिबी दूर करण्यासाठी कोणा एका बुवाकडे जातो, आणि तो म्हणतो - थांब रे बाबा ! तुझ्यावर कोणीतरी चांगलीच करणी केली आहे, तर मी तुला उपाय देतो ; कितीही प्रयत्न करून धंद्यात यशच मिळत नसेल तर दुसऱ्यांवरती जादू-टोण्याचा आरोप व तो दूर करण्यासाठी पळापळ ; मूलबाळ होत नसेल तर देवाला साकडं घालणे व नवस मागणे ; गाय, बैल इ. प्राणी खरेदी करायचे असतील तर त्यांच्या शरीराच्या लक्षणावरून व चिह्नांवरून त्यांना तपासून घेणे, हे आणि असे अनेक उपाय आपण आयुष्यात सुखी होण्यासाठी करत असतो व हेच आजच्या समाजाचे वास्तव चित्र आहे.

त्याचेच पडसाद दूरदर्शनवरही आपल्याला दिसून येतात. बुरी नजरों से बचने के लिए, घर-दुकान-कारखानों के वास्तुदोष समाप्त करने के लिए, परीक्षा में अच्छे गुण प्राप्त हो इसलिए, नोकरी तथा संतान की उन्नति के लिए, विवाह में आये विघ्न दूर होने के लिए, पत्रिका में रहे दोषों को दूर करने के लिए,

स्वास्थ्य में आनेवाले संकटों को दूर करने के लिए, दुर्घटना का योग टल जाय इसलिए, आदि आदि सभी संकटों को भगाने के तथा सौभाग्य के रास्ते खोजने के उपाय हमारे पास हैं । तो आओ ! - महालक्ष्मी यंत्र, शिव-हनुमान महायोग यंत्र, नवग्रह यंत्र, नजरसुरक्षा कवच, कालचक्र, राशिभविष्य इ. द्वारा आपके जीवन में आये सभी विघ्न तुरंत टल जायेंगे ।

अशा प्रकारे सतत, विनाव्यत्यय दूरदर्शनवर जाहिरातींचा भडिमार होत असतो. आपणही कोणत्या ना कोणत्या संकटात अडकलेलोच असतो. त्यामुळे अशा प्रकारच्या अनेक तंत्र, मंत्र, विद्या आणि चमत्कारांनी आपलंही डोकं भांबावून जाते. ऐहिक सुखासाठी आपणही आकर्षित होऊन त्याच्या आहारी जातो व त्याचा आश्रय घेतो.

सूत्रकृतांगातील 'क्रियास्थान' अध्ययनात अशा प्रकारच्या विद्यांना 'पापश्रुत' म्हटले आहे. तेथे 'पापश्रुत' कशाकशाला म्हणावे याची बरीच मोठी यादी दिली आहे. जसे - स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी यांची शुभाशुभ लक्षणे सांगणारे शास्त्र; अष्टमहानिमित्तशास्त्र; ग्रह-नक्षत्र-तारे यांचे शास्त्र; भूशास्त्र; शकुनशास्त्र; मोहिनीविद्या; तत्काळ अनर्थ करणारी विद्या; रोग निर्माण व रोग दूर करण्याचे शास्त्र; भूतबाधा करण्याचे शास्त्र; धूळ, केस, मांस, रक्त इ.च्या वृष्टीचे फळ सांगणारे शास्त्र म्हणजेच 'काळ्या जादू'चे शास्त्र; शाबरी, द्राविडी, गांधारी इ. भौगोलिक प्रदेशाच्या नावावर आधारित, प्रदेशानुसारी विद्या; अदृश्य होण्याची विद्या. या आणि यासारख्या अनेक विद्या व शास्त्रांचे विवेचन तेथे दिले आहे. हा त्याकाळच्या समाजाचा जणू आरसाच आहे.

ज्याअर्थी अशा अनेक विद्यांचे व शास्त्रांचे वर्णन तेथे आले आहे

त्याअर्थी मनात प्रश्न निर्माण होतो की त्याकाळी सुद्धा अशा प्रकारच्या विद्या सामाजिक वातावरणात अस्तित्वात होत्या का ? प्रत्यक्षात त्याचा वापर होत होता का ? तर उत्तर होकाराकडेच जाते. फक्त जैनच नव्हेत तर बौद्ध व वैदिक अशा तिन्ही परंपरेतील अनेक ग्रंथात वेगवेगळ्या विद्यांचे वर्णन आढळते. अथर्ववेदात मंत्र, तंत्र वशीकरण, जादूटोणा, अंधश्रद्धा यांचा प्रभाव असलेल्या समाजाचे चित्रण आढळते. म्हणूनच आरंभी वैदिकांनी तीन वेदांनाच पवित्र मानले. अथर्ववेदाला 'लोकवेद' असे संबोधले. बौद्ध परंपरेचे कालपरत्वे जे चार संप्रदाय झाले त्यापैकी एक संप्रदाय तंत्र व मंत्रांच्या उपासनेवरच आधारित होता.

जैन साधुआचारविषयक ग्रंथात आदर्श तर असा आहे की, अशा विद्यांचा उपजीविकेसाठी या अन्य कोणत्याही कारणासाठी वापर करू नये. जर केला तर परिणामस्वरूप परलोकात अहित होईल. मृत्युनंतर असुरसंबंधी किल्विष देव व्हाल. त्यानंतर पुढील जन्मात आंधळे, मुके व्हाल. एकंदरीतच या विद्या पापश्रुत आहेत व त्या तुम्हाला पापी योनीमध्ये ढकलणाऱ्या विद्या आहेत.

पातंजलयोगसूत्रातील 'विभूतिपादा'त सिद्धींचे वर्णन करताना तेथे स्पष्टत: म्हटले आहे की – ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: । (पा.योग ३.३७) याचाच अर्थ असा की अशा सिद्धी, समाधी प्राप्त करण्यात अथवा ज्ञान प्राप्त करण्यात विघ्ने आहेत, अडथळा आहेत. योगसूत्रातील वर्णिलेल्या या सिद्धी या अघोरी नसून कल्याणकारक आहेत तरीही त्या तुमच्या उन्नत्तीत बाधा आणणार असल्यामुळे त्यांच्या निषेधाचाच सूर आहे.

म्हणजेच या विद्या तुमच्या आध्यात्मिक प्रगतीत अडथळा आहेत अथवा त्यामुळे तुमचे अध:पतन होणार आहे असे स्पष्ट उल्लेख असतानाही वास्तव काही वेगळेच आहे.

साक्षात् जैन आगमांमध्ये डोकावले असता असे दिसते की -

भगवतीसूत्रात तेजोलेश्या व शीतलेश्येचा वापर, अंतगडसूत्रात यक्षाने अर्जुनाच्या शरीरात केलेला प्रवेश, छेदसूत्रातील साधूंची अंतर्धान पावण्याची अथवा अदृश्य होण्याची विद्या, गौतम गणधरांच्या अणिमा, गरिमा इ. अनेक सिद्धी तथा क्षीर इ. लब्धी, सनत्कुमार चक्रवर्तीचे स्वत:च्या थुंकीने अनेक रोग दूर होण्याचा उल्लेख, स्थूलिभद्रांनी आपल्या बहिणींना ज्ञानाचा चमत्कार दाखविण्यासाठी घेतलेले सिंहाचे रूप, अचलाराणीने दृष्टी फिरविली व महामारी रोग दूर झाला इत्यादी इत्यादी ---

इतकेच नव्हे तर सर्वच कथाग्रंथ विद्या-सिद्धी, अद्भुतता व चमत्कारांनी भरलेले आहेत. भक्तामरस्तोत्राची अद्भुतता तर सर्वज्ञातच आहे. कुंदकुंदाचार्य, कालकाचार्य, पादलिप्ताचार्य, खपुटाचार्य, नागार्जुनाचार्य इ. आचार्यांच्या चरित्रात अनेक अद्भुत विद्यांचा निर्देश व इतकेच नव्हे तर त्यांनी त्याचा प्रत्यक्ष उपयोगही केलेला दिसून येतो. 'कुमारपालप्रतिबोध'सारख्या ग्रंथात 'इंद्रजाल' प्रयोग, अंतर्धान पावण्याची विद्या, चारणविद्या अशा अनेक विद्या आढळतात.

प्रत्यक्ष आगमात व त्यानंतरच्या अनेक ग्रंथात पापश्रुतातील या विद्यांचा व चमत्कारांचा प्रत्यक्षात केलेला वापर पण, त्याचबरोबर सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, आवश्यकसूत्र तथा आवश्यकचूर्णि इ. ग्रंथात याच विद्यांना 'पापश्रुत' म्हणणे असे दुहेरी परस्परविरूद्ध वर्णन का आढळते ? आदर्श तर दाखवून दिला आहे की या विद्या शिकूही नयेत व प्रत्यक्ष त्याचा वापरही करू नये. परंतु वस्तुस्थिती याच्या बरोबर विरुद्धच दिसते. तर त्याची कारणमीमांसा देण्याचा प्रयत्न केला आहे -

* जैन परंपरेतील आकर ग्रंथ म्हणून ओळखल्या जाणाऱ्या 'दृष्टिवाद' या ग्रंथातच अशा अनेक विद्यांचा समावेश होता.
* चमत्कारी विद्या इतर परंपरेत आहेत तर जैन परंपरेतही आहेत, हे दाखविण्यासाठी.
* समाजात आपले अस्तित्व टिकवून ठेवण्यासाठी.
* राजदरबारात आपला प्रभाव पाडण्यासाठी.
* सामाजिक दबावामुळे आपले श्रेष्ठत्व सिद्ध करण्यासाठी.
* अनिष्ट दूर करण्यासाठी.
* प्रसंगी जनहितासाठी.
* धर्मप्रभावनेसाठी.

काहीही असो, कारण कोणतेही असो, या विद्यांचा वापर आम समाजात चालूच होता. पापश्रुतातील या विद्या समाजात अस्तित्वात होत्या. प्रत्यक्ष प्रसारात होत्या, प्रचलित होत्या, त्यांचा अभ्यास होत होता व प्रत्यक्ष उपयोगही चालू होता. पण तरीही जैन आगमात त्या शिकायला व त्याचा प्रत्यक्ष वापर करायला विरोध आहे आणि म्हणूनच –

* 'दृष्टिवाद' नावाच्या अंग आगमात अनेक प्रकारच्या विद्या, त्याचे प्रत्यक्ष प्रयोग, त्याचे विधिविधान, ते सिद्ध करण्याची पद्धती इ.चे ज्ञान होते व त्यामुळेच त्याचा लोप झाला असावा किंवा केला असावा.
* ज्या आचार्यांनी अशा विद्यांचा वापर केला त्यांचे नाव 'नंदीसूत्रा'तील स्थविरावलीमध्ये नसून 'प्रभावक आचार्य' म्हणून त्यांना नोंदविले आहे.
* 'अति तेथे माती' या उक्तीनुसार एकदा का या विद्यांचा वापर सुरू झाला की त्याचा अतिरेक व्हायला वेळ लागत नाही. म्हणून पापश्रुत विद्यांचा वापर करू नये असे निर्देश दिलेले दिसतात.

* लौकिक व तात्कालिक सुखात न अडकता, पारलौकिक व आध्यात्मिक प्रगतीत विघ्ने न येण्यासाठी या पापश्रुताचा निषेध असावा.

अर्थातच जैनांनी तत्त्वज्ञानाची विशिष्ट बैठक व शुद्ध आचाराच्या उपदेशातून वामाचाराकडे झुकण्याच्या प्रवृत्तीला यशस्वीपणे आवर घातला. बौद्धांमध्ये वामाचार व शिथिलाचार यांचे प्रमाण जसजसे वाढत गेले तसतसा दहाव्या शतकाच्या आसपास भारतातून बौद्धधर्म जवळजवळ हद्दपार झाला. हिंदूंच्या बाबतीत काही वेगळेच घडले. जैन आणि बौद्ध धर्मामध्ये जाऊ पाहणाऱ्या स्त्रियांना व शूद्रांना व्रतवैकल्याचे व भक्तीचे मार्गदर्शन करून त्यांना हिंदुधर्मात रोखून ठेवले.

सर्व धर्मांनी आपापल्या परीने प्रयत्न केले तरी अशा विद्यांचा पगडा कायम आहे. आजच्या घडीला संपूर्ण समाजाच्या परिप्रेक्ष्येत असाच दुहेरीपणा चालू आहे. प्रगतशील विज्ञानयुगात एकीकडे आपण विज्ञानाद्वारे ग्रहांवर पोहचत आहोत. वेगवेगळ्या ज्ञानशाखा उदयाला येत आहेत. निसर्गाचा तसेच मनुष्यवस्तीचा शोध लावण्याचा प्रयत्न चालू आहे. अंधश्रद्धा निर्मूलनाचे काम चालू आहे. पण तरीही अंधश्रद्धेच्या आहारी जाणारा फार मोठा वर्ग आजही दिसतो आहे. म्हणजेच जैनग्रंथातच अशी दुहेरी व परस्पविरोधी वचने नाहीत तर प्रत्यक्ष समाजातही तेच चालू आहे किंबहुना वाढत आहे. मनुष्यप्राण्याचा 'मानसिक कमकुवतपणा' व 'दुसऱ्याच्या आहारी जाण्याची वृत्ती' या दोन गोष्टींचा फायदा सर्व प्रसारमाध्यमे घेत आहेत. त्याला यथेच्छ खतपाणी घालून, अंधश्रद्धेचा वृक्ष अधिकाधिक फोफावण्यासाठी प्रयत्न करत आहेत. पण तरीही काळीजादू, व्यभिचार, हिंसा यावर आधारित ज्या विद्या आहेत त्यांच्या अतिरेकावर लगाम लागेल, असा आशावाद नक्कीच ठेवू या !!!

◆◆◆

(३) आजची जैन जीवनपद्धती व वनस्पतिसृष्टी

व्याख्यान : डॉ. नलिनी जोशी
शब्दांकन : डॉ. अनीता बोथरा

सूत्रकृतांगाच्या दुसऱ्या श्रुतस्कंधातील तिसऱ्या अध्ययनाचे नाव आहे 'आहारपरिज्ञा'. विश्वातील सर्व जीवजाती कोणकोणत्या प्रकारचा आहार घेतात ते या अध्ययनात विस्ताराने सांगितले आहे. एकेंद्रियांपासून सुरवात केली असली तरी वनस्पतिसृष्टीचा विचार सर्वात प्रथम केला आहे. अध्ययनाचे एकंदर प्रतिपाद्य पहात असताना, अध्ययनाच्या प्रस्तावनेच्या निमित्ताने जे विचारमंथन झाले, त्याचा सारांश या लेखात प्रस्तुत केला आहे.

आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रज्ञापना, जीवाभिगम इ. अर्धमागधी प्राकृत ग्रंथात व मूलाचार, गोम्मटसार (जीवकांड) इ. शौरसेनी ग्रंथात वनस्पतींचे विवेचन सूक्ष्मतेने व विस्ताराने आढळते. वनस्पतींना एकेंद्रिय जीव मानल्यामुळे, वनस्पतींकडे पाहण्याची दृष्टीच अतिशय भावनात्मक आहे. वनस्पतींचा गति, जाति, योनि, लिंग, जन्म, इंद्रिय, शरीर इ. अनेक दृष्टींनी, खोलवर विचार केला आहे आणि म्हणूनच वनस्पतींकडे पाहताना हिंसा-अहिंसेची दृष्टी केंद्रस्थानी ठेवली आहे. 'सर्वजीवसमानतावाद' या तत्त्वानुसार, 'वनस्पती कनिष्ठ व मनुष्य श्रेष्ठ' असेही पाहण्याची जैनांची दृष्टी नाही. परिणामी आचारांगात वनस्पती व मनुष्यांची तुलना करून दोघांना समान पातळीवर आणून ठेवले आहे.

'जीवो जीवस्य जीवनम्' व 'परस्परोपग्रहो जीवनाम्' या सूत्रांनुसार निसर्गातील प्रत्येक जीव दुसऱ्या जीवाच्या आधारावर जगत असतो. जगण्यासाठी प्रत्येक जीवाला कोणता ना कोणता आहार घ्यावाच लागतो. जैन परंपरेत मांसाहार तर

सर्वथा निषिद्धच मानला आहे व शाकाहारातही अनेक नियम तसेच मर्यादा सांगितल्या आहेत.

शाकाहार म्हणजे वनस्पतिसृष्टीचा आहार. दैनंदिन व्यवहारात व स्वयंपाकघरात वनस्पतींच्या छेदन-भेदनाशिवाय आपले कोणतेही काम होत नाही. तरीही कांदे, बटाटे इ. कंदमुळांचा त्याग, मोड आलेल्या कडधान्यांचा त्याग, बहुजीवी वनस्पतींचा त्याग, पालेभाज्यांचा त्याग अशाप्रकारे धार्मिक दृष्टीने त्याग करण्याचे जैन समाजात प्रचलनही आहे. म्हणजेच वनस्पतींचा उपयोग करताना अतिशय सावधानतेचा इशारा तर आहेच शिवाय मर्यादाही करण्यास सांगितल्या आहेत. 'वनस्पतींमधील चैतन्य' या दृष्टीने मर्यादेच्या रूपाने त्यांच्या रक्षणाची असलेली दृष्टी, ही एक बाजू झाली. परंतु फक्त रक्षणच करून चालेल काय ? हा विचारणीय मुद्दा आहे. कारण रक्षण करायचे म्हटले तर कितीही कमी खायचे ठरविले तरी आहाराशिवाय आपण जिवंत राहू शकत नाही. वनस्पतींचा उपयोग तर प्रतिदिन चालूच आहे आणि म्हणूनच वनस्पतींच्या सर्व जाती-प्रजाती टिकवून ठेवण्यासाठी संरक्षणाबरोबर संवर्धनही तितकेच महत्त्वाचे ठरते.

भ. ऋषभदेवांचा जीवनकाळ चालू होता. अवसर्पिणी काळातील तिसरा 'सुषमा-दुषमा' आरा सुरू होता. ऱ्हासकाळ सुरू झाला होता. कल्पवृक्षाचे वैभव क्षीण झाले होते. म्हणजेच सामान्य भाषेत आपण असे म्हणू शकतो की, आपल्या गरजा निसर्गातून, ज्या अगदी सहज पूर्ण होत होत्या त्या आता होईनाशा झाल्या. त्यामुळे आहे त्या निसर्गावर काम भागवण्याचे दिवस संपले. म्हणजेच नवनिर्मितीचे दिवस आले. म्हणून ऋषभदेवांनी वृक्षांची लागवड कशी करावी, शेती कशी करावी, अन्न कसे बनवावे, व्यापार कसा करावा, वस्त्रे कशी

बनवावीत इ. अनेक जीवनोपयोगी साधनांचा क्रियात्मक उपदेश दिला. म्हणजेच ऋषभदेवांच्या चरित्रातून आपल्याला असाच संदेश मिळतो की जर निसर्गाचे वैभव क्षीण होत असेल तर आपण ते प्रयत्नपूर्वक वाढविले पाहिजे.

'ज्ञाताधर्मकथा' या अर्धमागधी आगमातील 'रोहिणी' अध्ययनात, रोहिणीसारख्या एका कर्तव्यदक्ष स्त्रीने, सासऱ्याने दिलेल्या पाच तांदळाच्या अक्षदा माहेरी पाठविल्या. पाचच तांदळांची शेती करण्यास सांगितली. पुन:पुन्हा पेरणी करविली. पाच वर्षांनी त्या पाच अक्षदांचे अनेक गाड्या भरून तांदूळ निर्माण झाले. त्याठिकाणी भातशेतीचे सुंदर वर्णनही आढळते. म्हणजेच या कथेत भ. महावीरांचा संदेश केवळ संरक्षणाचा नसून संवर्धनाचाही आहे. पुढे याच ग्रंथात प्रवासादरम्यान जाता-येता विश्रांती घेण्यासाठी 'नंदमणिकारा'ने एक रम्य वनखंड व पुष्करिणीही निर्माण केल्याचे उल्लेख आढळतात. 'उपासकदशा' आगमात 'आनंद' नावाचा वैश्य श्रावक रहात होता. त्याच्याकडे ४०,००० गायींचे गोकुळ व ५०० नांगरांनी होणारी शेती होती. खऱ्या अर्थाने तो शेती, पशुपालन व व्यापार करणारा वैश्य होता. भ. महावीर स्वत: अनेक उद्यानात उतरत असत. अशा प्रकारच्या सर्व उल्लेखांवरून निसर्ग समृद्ध करण्याचेच संकेत आढळतात. अर्थातच जसजसे निसर्गाचे वैभव कमी कमी होत जाईल तसतसे माणसाने त्याचे रक्षण व संवर्धन प्रयत्नपूर्वक व विचारपूर्वक केले पाहिजे असा बोध भ. ऋषभदेवांच्या चरित्रातून व महावीरवाणीतून आपल्याला मिळतो. पण प्रत्यक्ष जैनांचा आचार काही वेगळाच आहे.

जैनग्रंथात वनस्पतींचे वर्णन कितीही अचूक असले तरी महाभारतातील (शांतिपर्व) वर्णनाप्रमाणे - 'वृक्ष हे आमचे मित्र आहेत, पुत्र आहेत. ते वातावरण शुद्ध ठेवतात. त्यांना आपण वाढविले पाहिजे', असे स्पष्ट आदेशात्मक संकेत

जैनवाङ्मयात मिळत नाहीत. प्रत्यक्षात जैनांची एकंदर दृष्टीच अशी दिसते की वृक्षांच्या जवळ जाऊ नका, त्यांना तोडू नका, त्यांना हात लावू नका, त्यांचा वापर करू नका – जैनांचा वनस्पतींकडे पाहण्याचा दृष्टिकोण असा का असावा याची कारणमीमांसा शोधण्याचा प्रयत्न करू.

जैन परंपरा एक 'श्रमण परंपरा' म्हणून प्रसिद्ध आहे. संन्यास आणि निवृत्तीला प्राधान्य देणारा साधुधर्म त्यात मुख्यत्वे करून सांगितला आहे. आजूबाजूचा सर्व निसर्ग, चैतन्यमय जीवांनी भरलेला असल्यामुळे त्यातील घटकांचा कमीत कमी वापर केला पाहिजे, हे अहिंसामय साधुधर्माचे मुख्य मंतव्य आहे. साधुधर्माच्या जोडीजोडीनेच श्रावकधर्माचीही वाढ झाली. ती मुख्यत: साधुवर्गानेच केल्यामुळे साहजिकच साधुधर्मातील नकारात्मकता त्यात प्रतिबिंबित होत राहिली. श्रावकांनीसुद्धा त्याचेच ग्रहण करून, आपल्या अधिक विचारांनी वर्तणुकीचे नवनवीन नियम शोधले. नकारात्मकता, बचावाची दृष्टी व कमीत कमी वापर हे साधुआचाराशी सुसंगत असले तरी, श्रावकाच्या जीवनध्येयाशी ते तितकेसे सुसंगत ठरत नाही.

समजा एक चांगले वाढलेले शाकाहारी जेवण एखाद्या जैनेतरासमोर ठेवले तर तो नमस्कार करून म्हणेल, 'अन्न हे पूर्णब्रह्म'. आनंदाने त्या अन्नाचे भक्षणही करेल. याउलट जैन माणसासमोर ठेवले तर प्रत्येक पदार्थाविषयी शंका, संशय व चिकित्सा यांनी त्याच्या मनात काहूर माजेल. खावे की खाऊ नये या संभ्रमात तो पडेल. एकाच अन्नाकडे पाहण्याचे किती परस्परविरोधी दृष्टिकोण आहेत हे ! परिणामस्वरूप पिढ्यान्‌पिढ्या जैन समाजाला वनस्पती व प्राणिसृष्टीची साधी माहिती सुद्धा नाही. कोणतेही झाड, पान, फूल, फळ, पशु, पक्षी सहजी ते ओळखू शकत नाहीत. कारण झाडे लावणे, झाडांच्या जवळ जाणे, पक्षीनिरीक्षण

करणे हे त्यांच्या गावीच नाही. परिणामी जागरूक रहाण्याऐवजी नकारात्मक दृष्टीच वाढीस लागली.

आचारांगासारख्या अर्धमागधी आगमात दर क्षणाला सजीवसृष्टीकडे पाहण्यास सांगितले आहे. संवेदनशील राहण्यास सांगितले आहे. आजूबाजूच्या निसर्गातील पृथ्वी, अप्, तेज, वायू, वनस्पती इ. एकेंद्रिय जीवच नव्हे तर संपूर्ण जीवांच्या प्राणिरक्षेविषयी जागरूक व अप्रमत्त राहण्याचा संदेश दिला आहे. जर आपण त्यांच्याकडे सारखे पापात्मक दृष्टीने पाहू तर त्यांच्या जवळ जाणे, त्यांचे आपल्या मुलाबाळांप्रमाणे संगोपन करणे, त्यांच्यावर प्रेम करणे, या भावना कशा वाढीस लागतील ?

वनस्पतींना इजा होईल, त्यांना दुखापत होईल म्हणून आपला वापर तर थांबत नाही ना ? जपा म्हणजे काय ? कमी वापरा म्हणजे काय ? अपरिग्रहाचा खरा अर्थ काय ? – जर आपण उपयोग करतो तर अशाप्रकारचे 'कातडी बचावू' धोरण काय कामाचे ? उलट वंशसातत्य टिकवून ठेवण्याची इच्छा असलेल्या प्रत्येक मनुष्याने वनस्पतींचे संरक्षण व संवर्धन आपल्या मुलाबाळांप्रमाणे केलेच पाहिजे.

प्रत्येक जैनाचे कर्तव्य आहे की –

१) आपल्या घरासमोर एक छोटीशी का होईना 'बाग' असावी ज्यामुळे आपल्या घरातील सर्व ओला कचरा मातीत टाकून त्याचे खत निर्माण होईल. (ही जैनदृष्टीने 'परिष्ठापना समिति' आहे.)

२) पाण्यालाही अप्कायिक जीव मानणाऱ्या जैनांनी, निसर्गतः पावसाच्या रूपाने मिळणारे पाणी "rainwater harvesting" च्या रूपाने उपयोगात आणले पाहिजे.

३) सूर्यापासून मिळणाऱ्या उष्णतेचा 'सोलर' बसवून उपयोग केला पाहिजे ज्यामुळे विजेची बचत अर्थातच अग्निकायिक जीवांचे आणि पर्यायाने अप्कायिक जीवांचेही संरक्षण होईल.

४) शक्यतो नैसर्गिक व कृत्रिम दोन्ही फुलांचा वापर करू नये. टाळता येत असेल तर टाळा. कृत्रिम फुलांचा वापर तर मुळीच करू नका. कारण त्यांना निसर्गात पुन्हा जिरवता येणार नाही. रासायनिक प्रक्रियेद्वारा त्यांची निर्मिती होत असल्यामुळे पर्यावरणाला ते अधिकच घातक आहेत.

५) दानांमध्ये अग्रेसर असणाऱ्या व संपूर्ण प्राणिरक्षेविषयी जागरूक असणाऱ्या जैनांनी फक्त मंदिर, मूर्ति, तीर्थयात्रा, गोरक्षण इ. दानांबरोबरच, सर्व दानात श्रेष्ठ 'अभयदान', त्याचे महत्त्व लक्षात घेऊन 'अभयारण्या'सारख्या प्रकल्पांना निधी पुरविला पाहिजे.

नव्या पिढीमध्ये ही जागृती निर्माण झाली आहे. त्या पिढीची नीरस जगण्याची वृत्ती नाही. ज्याचा आपण उपयोग करतो, त्याच्या निर्मितीपासून पलायन करण्याचा त्यांचा स्वभाव नाही. तर आपणही आपल्या निषेधात्मक दृष्टीला दूर करून सकारात्मक दृष्टीचे नवे वळण देऊ या.

'पर्यावरणरक्षणाला अनुकूल धर्म', आपण खऱ्या अर्थाने प्रत्यक्षात आणू या. जैनधर्माच्या हृदयाशी सुसंगत वागू या. अतिरेक तर नक्कीच टाळू या. "ecofriendly', "biodiversity' असे फक्त शाब्दिक उपयोग न करता, खऱ्या अर्थाने निसर्गाच्या जवळ जाऊ या. निसर्गाचा आनंद घेऊ या. कर्तव्यदक्ष राहू या. झाडांच्या जवळ आपण जाणे याचा अर्थ फक्त झाडांचा आनंद व ऑक्सिजन घेणे एवढाच नव्हे तर मी जे निःश्वास

टाकते ते खरोखरच झाडांनाही तितकेच जीवनदायी आहेत, अशीही दृष्टी ठेवू या. आपल्या संरक्षणरूपी जमेच्या भक्कम बाजूबरोबरच, संवर्धनाची दुर्बल बाजू लक्षात घेऊन, तिला सक्षम बनविण्यासाठी भ. ऋषभदेवांचा क्रियात्मक आदर्श समोर ठेवू या व 'आधी-अधूरी' बाजूही परिपूर्ण करू या. एक सामाजिक चळवळ या स्वरूपात आता 'ऋषभ भगवान वृक्ष लागवड योजना' खऱ्या अर्थाने आपलीशी करून प्रत्यक्षात आणू या.

◆ ◆ ◆

(४) सूत्रकृतांगातील वनस्पतिसृष्टी व सद्य:स्थिती

व्याख्यान : डॉ. नलिनी जोशी

शब्दांकन : डॉ. अनीता बोथरा

सूत्रकृतांगातील ‘आहारपरिज्ञा’ अध्ययनात एकेंद्रियांपासून ते पंचेंद्रिय जीवांच्या आहारासंबंधीची चर्चा आहे. त्यातही इतर चार एकेंद्रियांच्या तुलनेने वनस्पती या बऱ्याच प्रमाणात दृश्य व मूर्त स्वरूपात असल्याने व मानवांच्या दृष्टीने त्या अतिशय उपयुक्त असल्याने, वनस्पतींचा विचार सर्वात प्रथम व अधिक विस्ताराने केला आहे. वनस्पतींची उत्पत्ती, वाढ व सजीवता निरीक्षण करण्याजोगी आहे. मानवी शरीराप्रमाणे त्यांच्यातील बदलही आपल्या प्रत्ययास येतात व म्हणूनच जैनग्रंथात वनस्पतिविचार अधिक सखोलपणे व सूक्ष्मपणे केलेला दिसतो.

सूत्रकृतांगात वनस्पतींच्या तीन ‘योनि’ सांगितल्या आहेत. योनि म्हणजे वनस्पतींचे उत्पत्तीस्थान.

१) **पृथ्वीयोनिक वनस्पती :** काही वनस्पतींचा आधार किंवा योनि पृथ्वी असते. पृथ्वीच्या आधाराने वनस्पतींची उत्पत्ती होते. सर्व प्रकारची फळझाडे, सूक्ष्म अशा कुश गवतापासून ते बांबूसारख्या स्थूल गवताचे सर्व प्रकार, आयुर्वेदिक सर्व औषधी वनस्पती व धान्ये, जमिनीलगत वाढणारे शेवाळ इ. छोट्या प्रजाती व गुल्म, गुच्छ इ. झुडपांचे सर्व प्रकार ‘पृथ्वीयोनिक वनस्पती’ आहेत.

२) **उदकयोनिक वनस्पती :** पाण्यात राहणाऱ्या, पाण्यातूनच आहार घेणाऱ्या व पाण्यातच वाढणाऱ्या वनस्पती ‘उदकयोनिक वनस्पती’ होत. अवक,

पनक, शैवाल, कलम्बूक, हड, कसेरुक इ. उदकयोनिक वनस्पती आहेत. डिसकव्हरीमध्ये अथवा पाण्याखालील सफारीत, अशा प्रकारच्या वनस्पतींचे एक अद्भुत विश्वच पहावयास मिळते. जितकी विविधता पृथ्वीवर नाही त्याहून अधिक विविधता पाण्याखाली पहावयास मिळते. जेवढे रंगांचे वैविध्य दृश्य जगात आहे त्याहून अनेकविध प्रकारच्या खडकांचे रंग व वनस्पतींचे रंग पाण्याखाली पहावयास मिळतात. जैनग्रंथात नोंदविलेल्या तांदुळाच्या आकाराच्या छोट्या माश्यापासून ते महाकाय मत्स्यापर्यंतच्या सर्व जाती पाण्याखालीच पहावयास मिळतात. इतके वैचित्र्य समुद्राच्या पोटात आहे. वनस्पतींची विविधताही आहे व त्यांच्या आहाराचे वर्णनही सूत्रकृतांगात केले आहे. पाण्याखालील विश्व काही गूढच आहे.

३) **वनस्पतियोनिक वनस्पती :** वनस्पतियोनिक वनस्पती म्हणजे, 'एक वनस्पती दुसऱ्या वनस्पतीचे उत्पत्तिस्थान असणे.' खोड, फांद्या, पाने, फुले, प्रवाळ, काटे, तुरे इ. सर्व एका मुख्य वनस्पती जीवाचे अध्यारोह आहेत. म्हणजे त्या वनस्पतीच्या आधाराने वाढणारे आहेत. मुख्य झाडाचा जीव एक असला तरी ती वनस्पती जेव्हा स्वत:ला वेगवेगळ्या रूपात रूपांतरित करते तेव्हा खोड, फांद्या इ. सुद्धा वेगवेगळे स्वतंत्र-स्वतंत्र जीव होतात. माणूस एकच असला तरी त्याच्या केस, त्वचा, हाडे, मांस, रक्त इ. सर्व अवयवांच्या पेशींची मूळ रचना वेगवेगळी असते. त्याचप्रमाणे वनस्पतिशास्त्राच्या दृष्टीनेही खोड, पान इ.च्या पेशी वेगवेगळ्या असतात. याच अर्थाने प्रत्येक पाना-फुलाचा जीव वेगळा असतो असे जैनशास्त्र म्हणते. बागकाम करताना लक्षात आलेले विशेष निरीक्षण येथे नोंदवावेसे

वाटते. जास्वंदीच्या फुलांचे दिवस होते. निरीक्षणानंतर असे लक्षात आले की, फांदीला १-२ फुले येणार असतील तर १०-१२ पाने गळूनच पडतात. फुले येण्यासाठी पानांना आपला प्राण त्याग करावा लागतो. 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' या जैनग्रंथात नमूद केलेल्या सूत्राप्रमाणे प्रत्येक जीव दुसऱ्या जीवाला कोणत्या ना कोणत्या प्रकारे उपयोगी पडतच असतो. विशेष म्हणजे फांदीला ज्या क्रमाने पाने येतात, त्या क्रमाने गळत नाहीत. अनुभव असा आहे की, कित्येकदा जून पान तसेच राहते व नवीन, छोटे, कोवळे पान गळून जाते. त्याअर्थी जैनग्रंथात सांगितल्याप्रमाणे प्रत्येक पानात स्वतंत्र जीव आहे व त्यामुळे प्रत्येक पानाचा जीवनकाळही त्याच्या त्याच्या आयुष्यकर्मानुसार वेगवेगळा आहे. म्हणूनच प्रत्येक पाना-फुलाला वेगवेगळ्या प्रकारे कर्मसिद्धांत लागू होतो.

प्रत्येक झाडाचे जीवनचक्र वेगळे असते. प्रत्येक झाडाची पानगळती वेगळी असते. पद्धत वेगळी, वेळ वेगळी, क्रम वेगळा व गळणाऱ्या पानांची संख्याही वेगळी. चिंच, आवळा इ. संयुक्त पाने असणाऱ्या झाडांची पाने संपूर्णपणे गळतात. झाड अगदी खराट्यासारखे होते. काहींची पानगळ वर्षभर चालू असते तर काहींची ऋतुनुसार. बांबूच्या झाडाला १०-१२ वर्षातून एक फूल येते व फूल आले तर बांबूचे झाड हळूहळू नष्ट होते. सृष्टिनिरीक्षणावर आधारित असलेल्या जैनग्रंथात (दशवैकालिकात) अविनयी शिष्य, गुरुकडे अनेक वर्ष शिकूनही स्वतःच्या दुर्गुणामुळे, स्वतःच्याच विनाशास कसा कारणीभूत होतो हे बांबूच्या उदाहरणाद्वारे सांगितले आहे.

प्रत्येक माणसाचा स्वभाव जसा भिन्न-भिन्न असतो, तसा प्रत्येक झाडाचा स्वभावही वेगवेगळा असतो. जातीनुसार प्रत्येक झाडाचे वेगळेपण तर असतेच पण त्यातही एका झाडाचे एक फूल, त्याच झाडाच्या दुसऱ्या फुलाप्रमाणे नसते. वंशसातत्य टिकवून ठेवण्यासाठी जशी माणसे धडपड करत असतात, वेगवेगळ्या प्रगत विज्ञानाचा आश्रय घेतात, तश्या वनस्पतीसुद्धा हे सर्व निसर्गत: करत असतात. केळीच्या झाडाच्या बाबतीत केळ्यांचा घड एकदा का येऊन गेला की पुन:पुन्हा येत नाही. पण त्याच झाडाला 'आपली प्रजाती टिकवून ठेवणे' या स्वयंप्रेरणेने, खालून नवीन कोंब फुटल्यावरच आधीचे झाड हळूहळू संपते व नवीन वाढीस लागते.

वनस्पतिशास्त्राच्या दृष्टीने वेलींनीसुद्धा कोट्यवधी वर्षात आपल्यात अनेक बदल केले आहेत. स्वसंरक्षणासाठी व स्वअस्तित्वासाठी अनेक बाह्यपरिवर्तने केली आहेत. जैन दृष्टीने या बदलांना पर्यायबदल असे म्हणता येईल.

'बटाटा, रताळे इ. वनस्पती जमिनीखाली का येतात ?' याची चर्चा वनस्पतिशास्त्राच्या जाणकारांशी केली असता, त्यांचे म्हणणे पुढीलप्रमाणे आले. ते म्हणतात की, बटाट्यासारख्या कंदांना आपले वंशसातत्य टिकवून ठेवण्यासाठी, त्यामध्ये असलेला अधिक अन्नाचा साठा कित्येक दिवस जमिनीखाली तसाच सुरक्षित ठेवता येतो. त्यांनी स्वत:साठी तयार केलेले अन्न जमिनीखाली सुरक्षित राहते आणि म्हणूनच त्यांनी स्वत:साठी बनविलेले अन्न आपण घेऊ नये, घेतल्यास ती चोरी होईल, अशाही एका वेगळ्या निरीक्षणशक्तीच्या आधारे भ. महावीरांनी

त्या वनस्पतींकडे पाहिले असावे. दुसरा दृष्टिकोण असा असावा की, त्या काळी तापसवर्ग जंगलात रहात होता व कंदमुळे खाऊनच त्यांचा जीवननिर्वाह होत होता. अतिरिक्त वापरामुळेही त्या प्रजाती नष्ट न होण्याच्या दृष्टीने, त्यांच्या वापराचा निषेध केला असावा. म्हणजेच 'कंदमुळे अनंतकायिक वनस्पती आहेत म्हणून त्या खाऊ नयेत' या दृष्टिकोनाबरोबरच भ. महावीरांच्या अनेकांतवादी दृष्टिकोनामुळे, प्रत्येक गोष्टीकडे पाहण्याचे, विचार करण्याचे अनेक पैलू, विविध आयाम आपल्याला सहजी उपलब्ध झाले आहेत.

वनस्पतियोनिक वनस्पती अथवा अध्यारोह वनस्पती यांचा आताच्या परिप्रेक्ष्यात आपण वेगळा अर्थ लावू शकतो. जसे बांडगूळ - एखाद्या झाडाच्या मोठ्या खोडात खळगा तयार होऊन त्यात सूक्ष्म बीजे पडतात. जसे वडाच्या झाडात पिंपळाची आलेली फांदी अथवा पिंपळाच्या झाडात वडाची आलेली फांदी. अशा प्रकारे नैसर्गिकरित्या तयार झालेल्या अशा वनस्पतींना पाहूनच बागकाम शास्त्रज्ञांनी कलमी वनस्पती विकसित केल्या असाव्यात. सजातीय वनस्पती अथवा समान गुणधर्म असलेल्या वनस्पती घेऊन, जेनेटिक संयोग घडवून 'कलम'पद्धती निर्माण केली. परंतु दुष्परिणाम असा आहे की कलमी वनस्पती या परत फांदी लावून येत नाहीत. लावलेच तर झाड येईल, अफाट वेगाने वाढेलही पण पुन्हा फुले, फळे इ. काहीही येणार नाहीत.

आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक इ. जैनग्रंथात वनस्पतींचे अग्रबीज (जसे अग्रभागी येणाऱ्या कणसातून तयार होणारी धान्ये), मूलबीज (मूळ हेच ज्यांचे बीज अर्थात् सर्व प्रकारची कंदमुळे), पर्वबीज (पेरवाल्या

वनस्पती जसे ऊस इ.), स्कंधबीज (फांदी लावून येणाऱ्या वनस्पती) अशाही प्रकारे वर्गीकरण केलेले दिसते. अग्रबीजात गहू, ज्वारी, बाजरी, तांदूळ, मका इ. सर्व प्रकारच्या धान्यांचा समावेश होतो. झाडावर पिकून, पूर्णवाढ होऊन, खाली पडणाऱ्या अवस्थेत त्यांची तोडणी होते. परिपक्व अवस्थेत तयार झालेले असल्यामुळे जैन व जैनेतर, ह्यांचा मुख्य अन्न म्हणून स्वीकार करतात. तरीही 'प्रत्येकात जीव आहे', हे गृहीत तथ्य तसेच कायम राहते.

एकंदरीत काय, काहींचे बी लावून, काहींचे खोड लावून, काहींच्या फांद्या लावून तर काहींची मुळे लावून जैनशास्त्रात वर्णिल्याप्रमाणे आजही प्रत्यक्षात, अशा विविध मार्गांनी झाडांची प्रतिरूपे तयार केली जातात.

शेतीविषयक सद्यपरिस्थिती अशी आहे की 'बी.टी.बियाणे' हा बाजारात येणारा अतिशय भयंकर प्रकार आहे. ते बी आणून लावले तर एकदाच उगवते. त्यापासून तयार झालेले बी पुन्हा लावले तर झाडे येतील पण फुले, फळे येणार नाहीत. त्या बीमध्ये एवढेच जिन्स् ठेवलेले असतात की त्यापासून एकदाच उत्पादन होऊ शकेल. अलीकडच्या १०-१५ वर्षात याची झापाट्याने वाढ होत आहे. व्यापारी वर्गाची मक्तेदारी झाली आहे. पूर्वी शेतकरी स्वतःचे एक पोते, बी-बियाणे म्हणून, पुढील पेरणीसाठी जपून ठेवायचे, ते सर्व आता संपुष्टात आले आहे. तुमचे तुम्हाला उत्पन्नच करता येणार नाही अशी परिस्थिती निर्माण झाली आहे. परावलंबन वाढत चालले आहे.

'गावरान बी' पुन्हा पेरणी केल्यानंतर उगवत होते पण ते आकाराने लहान व प्रमाणही कमी होते. जसे आपण घरच्या घरी धने घेऊन, थोडे

रगडून, जमिनीत टाकायचो तर कोथिंबीर सहजी येत होती. पण आता ते दिवस संपले. प्रगत शास्त्रज्ञ सर्व प्रयोग बियांवर करण्यात व्यस्त आहेत. प्रगत जात तयार करण्यासाठी, आकार वाढविण्यासाठी व प्रमाण वाढविण्यासाठी वेगवेगळ्या रसायनांचा व औषधांचा वापर चालू आहे. हा बदल झपाट्याने होत चालला आहे. प्रयोगाद्वारे अशी काही बी-बियाणे बनवितात की त्यांच्याकडून विकत घेण्याशिवाय पर्यायच उरत नाही.

नैसर्गिक पद्धतीचा लय होऊन कृत्रिमता आली आहे. टिश्यूकल्चरने तयार केलेली झाडेही प्रयोगशाळेत कृत्रिम पद्धतीने वाढवितात. एखादी बारीकशी पेशी लावून, तापमान नियंत्रित करून, संरक्षित अशा अवस्थेत त्यांना ठेवावे लागते. जशी आपली नाजूक मुले हवामानातील बदल सहन करू शकत नाहीत, अगदी तशीच ही कलमी झाडे सुद्धा नाजूक असतात. ऊन, वारा, पाऊस त्यांना सहन होत नाही. ते अल्पायुषी असतात.

आता तिसरे सहस्रक उजाडले आहे. विज्ञानाचे वारे जोरजोरात सर्व क्षेत्रात वहात आहेत. नवनवीन प्रयोगांनी प्रवेश केला आहे. ‘घरच्या घरी’ ही संकल्पना भूतकाळात गेली आहे. आधुनिक संशोधनाचे दुष्परिणाम वनस्पतिसृष्टीवरही झाले आहेत. जेनेटिक् इंजिनिअर नवनवीन संशोधन करत आहेत. परंतु शेतकरी समाजाचे शोषण होत चालले आहे. शेती ही संपूर्णत: निसर्गावर अवलंबून आहे. पाऊस वेळेवर आला नाही तर पाणी नाही. पाणी घालायचे म्हटले तर वीज नाही. कृत्रिमरीतीने तयार केलेल्या वनस्पती लवकर किडतात म्हणून त्यांच्यासाठी जंतुनाशके विकत आणावी लागतात. खतांचा वापर करून जमिनी उजाड होत चालल्या आहेत. जर

पाऊस वेळेवर आला नाही तर एक पीक वाया जाते. बाजारात जाऊन पुन्हा महागडी बियाणे आणावी लागतात. ठीक आहे, बी एकवेळ विकत आणू पण पाण्याचे काय ? पाण्याच्या अनेक योजना राबविल्या जात आहेत. पण एक थेंबही शेतकऱ्यांपर्यंत पोहचत नाही. अशा चक्रव्यूहात शेतकरी अडकले आहेत. पारंपरिक पद्धतीने शेती करणे सोडल्यामुळे शेतकरी आत्महत्येपर्यंत पोहोचले आहेत. त्यातून सुटकेचा मार्ग नाही. अन्नदात्या शेतकऱ्याची ही भीषण व दयनीय अवस्था आहे. वनस्पतींच्या संशोधनाचे झालेले हे दुष्परिणाम आहेत. खाद्य संस्कृतीत शिरलेले हे विज्ञान, उपयोग तर दूरच पण नुकसान मात्र अधिकाधिक होत आहे.

जैन दर्शनात बारा भावनांपैकी 'अशरणभावना' अनेक प्रकारे व्यक्त केली जाते. आधुनिक युगातील अशरणतेचा हा एक नवा प्रकार आला आहे. अन्नदात्या शेतकऱ्याला व अन्न खाणाऱ्या अशा दोघांनाही एकेकाळी ते सुखावह होत होते. त्यातील सर्व सत्ये कळून सुद्धा ते नाइलाजाने खावे लागत आहे. माझ्या हातात ते सुधारण्याचा काहीही उपाय नाही. ही ती नवी 'असहायता' किंवा 'अशरणता'.

◆ ◆ ◆

(५) सूत्रकृतांगातील प्रत्याख्यानाचे स्वरूप

व्याख्यान : डॉ. नलिनी जोशी

शब्दांकन : डॉ. अनीता बोथरा

वैभवलक्ष्मीव्रत, संकष्टीव्रत, मंगळवार, शुक्रवार इ. अनेक व्रते जैनेतर समाजात चालू असतात व त्याचे पडसाद जैन समाजावरही पडत असतात. समाजात एकमेकांचा एकमेकांवर प्रभाव पडत असतो, हे जरी सत्य असले तरी, वास्तविकता अशी आहे की जैनेतर समाजाकडून जैन समाजाची आदानाची अर्थात् ग्रहणाची क्रिया जितक्या प्रमाणात आहे, तितक्या प्रमाणात जैनांकडून घेण्याची जैनेतरांची प्रतिक्रिया मात्र दिसून येत नाही. जैन समाजात जैनेतरव्रते करण्याचे प्रमाण दिवसेंदिवस तर वाढत चालले आहे पण त्याचबरोबर उपवास, प्रत्याख्यान, नियम इ. जैनव्रते करण्याची परंपराही चालू आहे. महत्त्वाचा प्रश्न असा आहे की, कोणतेही छोटे-मोठे व्रत-नियम-प्रत्याख्यान असो, ते आपण का करतो ?, कशासाठी करतो ? व कसे करतो ? याचे ज्ञान असणे महत्त्वाचे आहे.

'संपूर्ण कर्मबंधापासून मुक्तता', हे जैनधर्माचे मुख्य ध्येय आहे. म्हणूनच भूतकाळातील कर्मबंधापासून मुक्त होण्यासाठी 'प्रतिक्रमण' व भविष्यकाळात कर्मबंध होऊ नये म्हणून 'प्रत्याख्यान' हे दोन उपाय जैनधर्मात वारंवार निर्दिष्ट केले जातात. प्रत्याख्यानाचा हा रामबाण उपाय जैनधर्माशिवाय विश्वातील कोणत्याही धर्माने सांगितलेला नाही.

बौद्धधर्मात आत्मा 'अनादि व नित्य' मानतच नाहीत.आत्मा हा संस्कारमय व क्षणिक असा मानतात. सांख्य दर्शनाने 'प्रकृति' म्हणजे जड व 'पुरुष' म्हणजे चेतन अशी दोन तत्त्वे तर मानली आहेत परंतु पुरुष हा तटस्थ व साक्षी असून

त्याच्या अध्यक्षतेखाली प्रकृतीच सदैव कार्यरत असते, असे सांख्यदर्शन मानते. परंतु जैनदर्शनात मात्र आत्माच कर्ता अर्थात् करणारा व भोक्ता अर्थात् भोगणारा आहे. म्हणून प्रत्याख्यानाचा संबंधही आत्म्याशीच आहे.

व्यवहारात आपण सहजी म्हणून जातो की – याचा मानसिक निश्चय अथवा मनोबल इतके जबरदस्त आहे की, आठ दिवस, पंधरा दिवस अथवा महिनाभर हा अन्नपाण्याचा त्याग करून आरामात राहू शकतो. परंतु भ. महावीरांनी 'प्रत्याख्यानक्रिया' अध्ययनाचा आरंभच असा केला आहे की, 'आया अपच्चक्खाणी यावि भवति ।' संसारी आत्मा हा अप्रत्याख्यानी आहे. म्हणजे प्रत्याख्यानाचा व आत्म्याचा संबंध स्पष्ट शब्दात जोडला आहे, मनाचा नाही. कारण जैनधर्माने आत्म्यात अनंतशक्ती मानली आहे. म्हणून कोणताही त्याग अथवा प्रत्याख्यान हे आत्मिक बळाच्या आधारे करावयाचे आहे, मन:शक्तीने नाही. मन:शक्तीपेक्षा आत्मिकशक्ती ही अनंतपटीने अधिक आहे. किंबहुना आत्म्याकडून मनाकडे व इंद्रियांकडे शक्तीचा स्रोत पुरविला जातो आणि म्हणूनच जैनधर्म हा ''आत्मकेंद्री'' आहे.

आज प्रचलित जैन समाजात 'प्रत्याख्यान = आहाराची नियमावली' अशी दृढ धारणा प्रस्थापित झाली आहे. सूत्रकृतांगाच्या प्रत्याख्यानक्रिया या अध्ययनात भ. महावीरांनी आहाराचेच प्रत्याख्यान सांगितले आहे का ? की प्रत्याख्यानक्रिया अजून वेगळ्या दृष्टीने प्रस्तुत केली आहे, त्याचा ऊहापोह आपण या लेखात करू.

जैनधर्म हा भावशुद्धीला महत्त्व देणारा आहे. त्यामुळे साहजिकच प्रत्याख्यान हे केवळ आहाराचेच नसून जीवाचे क्रोध, अभिमान, छल, कपट, तृष्णा इ. जे आंतरिक दोष अथवा दुर्गुण आहेत, त्यांच्या प्रत्याख्यानाला या अध्ययनात

अधिक महत्त्व दिले आहे. आंतरिक दोषांची, दुर्गुणांची अथवा पापांची स्थाने ही अठरा आहेत. या अठरा पापस्थानांनी सदैव कर्मबंध होत असतो म्हणून प्रत्याख्यान, ‘अठरा पापस्थानां’चे करण्यास सांगितले आहे.

‘अठरा पापस्थान’ ही शब्दावली जैन तत्त्वज्ञानात अनेकदा येते. अर्थातच अठरा पापस्थानांना प्राचीन काळापासून अतिशय महत्त्व आहे. म्हणूनच या अध्ययनातही संपूर्ण अठरा नावे न देता ‘प्राणातिपातापासून ते मिथ्यादर्शनशल्यापर्यंत’ अशी शब्दावली उपयोजित केली आहे. सर्व पापस्थानांचा त्याग करताना एक गोष्ट मात्र समान आहे, ती अशी की – हिंसा असो, असत्य वचन असो की चोरी असो, कोणतीही पापक्रिया ही मनाने, वचनाने व कायेने स्वत: करू नये, दुसऱ्यांकडून करवून घेऊ नये व अनुमोदनही देऊ नये. अठरा पापस्थानांवर एकंदरीतच दृष्टी टाकली तर असे दिसून येते की, या मानवी स्वभावात दडलेल्या वेगवेगळ्या भावना आहेत, अंत:प्रवृत्ती आहेत. प्रसंगानुसार त्या वेळोवेळी प्रकट होतात. गुणांबरोबर माणसात अवगुणही अनेक आहेत. जसे – सहज जाता जाता कोणाला दगड मारणे (हिंसा), खोटे बोलणे (असत्य), स्वत:च्या मालकीची वस्तू नसताना उचलणे (चोरी), दुराचार (कुशील), संग्रहवृत्ती (परिग्रह), क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, मनासारखे काही घडले की आनंदाची भावना (रति), घडले नाही तर बेचैनी (अरति), सरळ सरळ तोंडावर बोलण्याचे धाडस नसेल तर त्यांच्या अपरोक्ष निंदा (परपरिवाद), एकमेकात भांडणे लावण्याची व चुगली करण्याची वृत्ती (कलह, पैशुन्य), व्यक्ती किंवा वस्तूच्या प्रति आसक्ती (राग) किंवा घृणा (द्वेष), खोटा दोषारोप (अभ्याख्यान), ‘मी त्यातला नाहीच’ असा भास निर्माण करण्यासाठी कपटपूर्वक खोटे बोलणे (मायामृषावाद) इ.इ. पण सर्वात घातक असे पापस्थान म्हणजे ‘मिथ्यादर्शनशल्य’. अर्थात् चुकीच्या

धारणा मनात स्थिर करणे. या भ्रांत धारणा व्यावहारिक पातळीवर असोत की सामाजिक अथवा कौटुंबिक पातळीवर असोत की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक पातळीवर असोत ; अनेक बाबतीत, विविध क्षेत्रात अशा चुकीच्या धारणा आपण पसरवत असतो. परंतु पसरवणाऱ्या व्यक्तीला आपण चुकीचे करत आहोत ही जाणीवच नसते. जाणीव करून दिली तर तो मान्य करत नाही.

तात्पर्य असे की, कोणत्याही चुकीच्या धारणा कशा वाढणार नाहीत याची खबरदारी प्रत्येकाने घेतली पाहिजे. इतकेच नव्हे तर इतरांचा धर्म अथवा दर्शन म्हणजे 'मिथ्यादर्शन' असा धर्माने लावलेला सांप्रदायिकी व अभिनिवेशी अर्थही आपण लावायला नको. चुकीच्या मान्यता स्वत: जोपासायच्या नाहीत व दुसऱ्यालाही खतपाणी घालून तो विषवृक्ष पसरवू द्यायचा नाही. वेळेवारीच सुसंवादाद्वारे त्या संपवून टाकायच्या.

एकंदरीतच ही अठरा पापस्थाने म्हणजे सर्व संसारी जीवांच्या स्वाभाविक प्रवृत्तीच आहेत. अंतर्मनात जे जे दृष्ट विचार आपण साठवीत असतो ते अठरा पापस्थानांच्या रूपाने प्रकट होत असतात. म्हणूनच एकच व्यक्ती सभा-संमेलनात, कुटुंबात व एकांतात वेगवेगळी दिसते. खऱ्या उर्मी, अंत:प्रेरणा, दुर्गुण प्रसंगानुसार बाहेर पडत असतात. मनुष्याच्या व्यक्तिमत्वाचे दोन स्तर आपल्याला दिसतात.

१) मन-वचन-कायेच्या सर्व वैशिष्ट्यांसह असलेले त्याचे बाह्य व्यक्तिमत्व,

२) आश्रवचित्ताने युक्त असे आंतरिक व्यक्तिमत्व.

ही अठरा पापस्थाने त्याच्या अंतर्मनात किती सौम्य, मध्यम व तीव्र आहेत यावरून त्याच्या आंतरिक व्यक्तिमत्वाची ओळख होते. अशा प्रकारचे मानसशास्त्रीय विश्लेषणही या अध्ययनात पापस्थानांच्या रूपाने आले आहे. आजच्या आधुनिक जगात Personality Development च्या आधारे आपले

बाह्य व्यक्तिमत्व सुधारण्यास मदत होईल परंतु भ. महावीरांनी अठरा पापस्थानांच्या त्यागरूपाने आंतरिक व्यक्तिमत्व सुधारण्याची गुरुकिल्ली दिली आहे.

प्रत्येक संसारी आत्मा हा असत् अनुष्ठानात मग्न, चुकीच्या धारणांनी युक्त, पक्षपाती, अज्ञानात गुंग व बेसावध असतो. अशा परिस्थितीत आपल्या मनात शंका निर्माण होईल की अशा प्रकारचा आत्मा फक्त मनुष्याचाच असतो का ? तर त्याअर्थाने पापबंध फक्त मनुष्यच करतात. इतर अप्रगत जीव, ज्यांना मन नाही, भाषाज्ञान नाही, झोप नाही, स्वप्न नाही असे निगोदी जीव पापबंध करतच नसावेत ! त्याचे समाधान असे आहे की - सर्व संसारी जीव हे षट्जीवनिकायांच्या (अर्थात् पृथ्वी, पाणी, अग्नी, वायु, वनस्पती व त्रसजीव) संपर्कातच असतात. एकटा जीव सर्वांपासून दूर, वेगळा राहूच शकत नाही. आहारासाठी एकमेकांवर अवलंबून असतात. कोणत्याही जीवाचे संसारात राहणे हेच अव्रताचे म्हणजे अप्रत्याख्यानाचे कारण आहे व तोच बंधाचा हेतू आहे. म्हणून कोणतीही जाणीव नसलेला निगोदी जीव असो किंवा पंचेंद्रिय संज्ञी (मनसहित) मनुष्य असो, सर्वांना पापबंध होतोच. अप्रत्याख्यानाने होणाऱ्या पापबंधापासून दूर राहण्याचा उपाय म्हणजे 'प्रत्याख्यान'. इतर योनींपेक्षा विचारशील मानवी योनीत प्रत्याख्यानाची सर्वाधिक शक्यता व क्षमताही आहे व म्हणूनच 'अठरा पापस्थानांपासून विरत राहण्याचा संकल्प' येथे सांगितला आहे.

प्रत्यक्ष आचरणात प्रत्याख्यानाचे पालन करण्यासाठी साधूंच्या दृष्टीने अत्यंत प्रभावी उपाय म्हणजे 'आत्मतुला' अर्थात् 'आत्मौपम्यभाव' सांगितला आहे. आपल्या आत्म्यासमान दुसऱ्याचा आत्मा आहे, ही जाणीव ठेवून हिंसा, शासन, दंड, कष्ट, परिताप कोणासही करू नका, देऊ नका. म्हणून महाव्रत, समिति, गुप्ति इ.च्या रूपाने साधुधर्मात तसेच छोटे-मोठे नियम घेऊन, शपथ व शुभ संकल्पांच्या रूपाने गृहस्थधर्मात प्रत्याख्यानाशी जोडला आहे.

पण प्रत्यक्ष जैन आचारात मात्र प्रत्याख्यान हे प्राय: आहाराशीच संबंधित असे दिसून येते. परंतु आहार हे त्याचे फक्त आंशिक रूप आहे. पापस्थानाचे जे मूळ कषाय ते दूर करणे सर्वात महत्त्वाचे आहे. कारण चित्तात शिरलेले कषाय अथवा वैरभाव दीर्घकाळ व खोलवर राहतात. त्यांना सहजी दूर करता येत नाही. जसे 'वाळा' नावाच्या गवताची सुगंधित मुळे एकमेकांत गुंतल्यामुळे, सहजासहजी पूर्ण उपटली जात नाहीत. उपटताना सूक्ष्म मूळ जरी राहिले तरी पुन्हा नवनिर्मिती होते. तसे कषाय असतात. निघून गेल्यावरही सूक्ष्मरूपाने जरी राहिले तरी निमित्त मिळताच वाढीस लागतात. म्हणून कषायांवर नियंत्रण ठेवता आलेच पाहिजे. आपल्या चित्तवृत्ती अशा पातळीवर असाव्यात की काही असो किंवा नसो, आपल्या आत्म्याचा आलेख हा एकसारखा दिसला पाहिजे. बाह्य वस्तूंची व्यवस्थापन पद्धती तर आपण शिकतच असतो पण भ. महावीरांनी अठरा पापस्थानांच्या त्यागाच्या रूपाने आंतरिक चित्तवृत्तींची व्यवस्थापन (management) पद्धती सांगितली आहे.

परिस्थिती, काळ, वेळ, संधी, दृष्टी इ. पाहून म्हणजेच पारिभाषिक भाषेत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार कोणत्या वेळी कशाला महत्त्व द्यायचे, ते तुम्हीच ठरवा. 'हवा' हा जसा 'दुराग्रह' आहे तसा 'नको' हाही 'हठाग्रह'च आहे. नियमातले गुंतवलेपण व त्याने होणारे अनर्थही टाळू या. जीवन प्रसंगा-प्रसंगाने साधेपणाने जगू या.

आजच्या व्यवहारात, त्या त्या अवस्थेत, त्या त्या भूमिकेत, अर्थात् मुलांविषयी असो, कुटुंबाविषयी असो, स्वत:विषयी असो अथवा धार्मिकतेविषयी असो, नेमके कुठे थांबले पाहिजे - याचे भान, याची जाणीव म्हणजे प्रत्याख्यान. जसा करियरचा उत्कर्षबिंदू असतो, तसा थांबण्याचाही उत्कर्षबिंदू असावा

आणि म्हणूनच संलेखना अर्थात् समाधिमरणाच्या प्रसंगीही प्रत्याख्यान धारण करताना सर्वप्रथम अठरा पापस्थानांचाच त्याग करण्याचा निर्देश आहे. कारण अठरा पापस्थानांच्या त्यागानेच नैतिक व आध्यात्मिक उन्नती होणार आहे, जी केवळ आहारत्यागाने होणार नाही.

आपण सर्व जीवांच्या संपर्कात राहतो व जगतो. त्यामुळे सर्व जीव अर्थात् षड्जीवनिकाय, हे अप्रत्याख्यानी जीवाला जरी संसारभ्रमणाचे हेतू ठरत असतील तरी प्रत्याख्यानी जीवाला तेच षड्जीवनिकाय मोक्षाचे कारणही ठरतात. सूत्रकृतांगसूत्राच्या टीकाकारांनी अशा भक्कम आशावादाने प्रत्याख्यानासंबंधीच्या विचारांचा उपसंहार केला आहे.

◆◆◆

(६) लेप गृहपति : एक आदर्श श्रावक

– संगीता बोथरा

सूत्रकृतांग या द्वितीय आगमग्रंथातील द्वितीय श्रुतस्कंधातील 'नालंदीय' नामक ७ व्या अध्यायात 'लेप' श्रावकाचे वर्णन आले आहे. या अध्ययनात गौतम गणधर आणि पार्श्वापत्यीय पेढालपुत्र उदक यांच्यातील सुप्रत्याख्यान आणि दुष्प्रत्याख्यान याच्या संदर्भातील चर्चासत्राचे विस्तारपूर्वक वर्णन आले आहे. हे चर्चासत्र 'लेप' गृहस्थाच्या 'शेषद्रव्या' नामक उदकशालेत झाले. सूत्रकृतांगाच्या दोन्हीही श्रुतस्कंधात एकमात्र 'लेप' श्रावकाचेच वर्णन आढळते.

'लेप' हा आदर्श श्रमणोपासक होता. राजगृहाच्या 'नालंदा' नामक उपनगरातील समृद्धशाली, तेजस्वी, विख्यात असा हा 'लेप' श्रावक. १२ व्रतांचा धारक आणि त्यांचे पालन करणारा ! आजदेखील आपल्यासारख्या श्रावक-श्राविकांचा आदर्श आहे.

'लेप' श्रावकाकडे विपुल प्रमाणात धन, धान्य, संपत्ती तर होतीच शिवाय विशाल आणि बहुसंख्य प्रमाणात भवन, शयन, आसन, यान, वाहन तसेच दास, दासी, गायी, म्हशी आदि होते. अनेक लोक मिळून देखील त्याचा पराभव करू शकत नव्हते. तो धनोपार्जनास उपयुक्त अशा सर्व उपायांचा ज्ञाता आणि त्यांचा प्रयोग करण्यात कुशल होता.

यावरून लक्षात येते की, 'लेप' श्रावक गर्भश्रीमंत, व्यवहारकुशल, पराक्रमी, रोजगार उपलब्ध करून देणारा, चतुर नागरिक होता. याचबरोबर तो जिज्ञासू आणि ज्ञानी देखील होता. त्याला जीव, अजीव या तत्त्वांचे परिपूर्ण ज्ञान होते. वस्तुस्वरूपाचे यथार्थ ज्ञान होते. निर्ग्रंथांच्या प्रती त्याची अतूट श्रद्धा, विश्वास

होता. धर्म त्याच्या हाडामासात भिनलेला होता. तो समोरच्या प्रतिवादीस देखील 'निर्ग्रंथ धर्म सत्य आहे', हे व्यवस्थितरित्या पटवून देत होता आणि त्यात स्थिर करीत होता. वीतराग भगवंतांच्या विषयी त्याची श्रद्धा त्याच्या धर्मदलालीतून आणि जिज्ञासूवृत्तीतून दिसून येते.

त्याचे यश सर्वत्र पसरलेले होते. त्याचे हृदय स्फटिकासमान निर्मल होते. राजाच्या अंत:पुरात देखील त्याला प्रतिबंध नव्हता. यावरून तो किती शुद्ध चारित्र्याचा होता हे प्रतिबिंबित होते.

सर्व सुखसोयींनी युक्त असलेली त्याची 'शेषद्रव्या' नावाची उदकशाला, याचकांसाठी सदैव उघडे असलेले त्याच्या घराचे द्वार, निर्ग्रंथ श्रमणांसाठी केलेली शुद्ध आणि एषणीय अशन, पान, खाद्य आणि स्वादिमची व्यवस्था, 'लेप' श्रावकाचा दानी स्वभाव, अनुकंपाभाव, दयावृत्ती, कर्तव्यपालनता दर्शवीत आहे.

'लेप' श्रावक फक्त व्यवहारात किंवा कर्तव्यपालनात मग्न होता असे नव्हे तर तो आत्मोन्नतीत देखील रममाण होता. चतुर्दशी, अष्टमी, पौर्णिमा यासारख्या तिथींना तो परिपूर्ण पौषधव्रताचे पालन करी. इच्छांचा निरोध करून उपवास आदि तपाने तप्त होवून आत्म्यास निर्मल करीत होता. निरासक्त भावात युक्त होवून आनंदाने जीवनयापन करीत होता.

उपसंहार : अशा या आदर्श श्रावकापासून प्रत्येकाने पुढील प्रेरणा घ्याव्यात.

१) मी माझ्याकडील धनसंपत्तीत अर्थात् परिग्रहात न अडकता निरासक्त भावनेने कर्तव्यपालनात तत्पर असावे.

२) लेप जर अत्यंत मोठा व्यापार कुशलतेने सांभाळून, पौषधादीव्रतांचे पालन करू शकतो तर मला देखील वेळ मिळत नाही, कोणाची साथ नाही अशी कारणे न देता यथाशक्य १२ व्रतांचे पालन करण्यास प्रेरित झाले पाहिजे.

३) आज देखील वर्तमानात बाबा आमटे, नारायण मूर्ती, अझीझ प्रेमजी सारखी माणसे 'लेप' सारखेच आदर्श श्रावक आहेत, नागरिक आहेत. मी देखील जैन दर्शन जास्तीत जास्त लोकांपर्यंत पोहचविण्यास प्रयत्नशील राहीन. १२ व्रतांचे पालन करून पर्यावरण समतोल ठेवण्यास सहकार्य करेन.

उत्तराध्ययन, अंतगड, विपाकसूत्र यासारख्या आगमग्रंथांचा थोडाफार परिचय होता पण सूत्रकृतांगाने आमचा वैचारिक क्षेत्राचा पट उलगडला. बुद्धी विशाल झाली. समाजाचे भान आले. वाणीविवेक समजला. सर्व भारतीय दर्शनांचा मूलस्रोत सूत्रकृतांग आहे हे समजले. नवीन मुद्दे, नवीन विषय, वादसंवाद, प्रश्नोत्तर, जुन्या शब्दांचे नवीन अर्थ दिसले. दृष्टी विस्तारली. एकांगीपणाचे तोटे कळले.

◆◆◆

(७) सूत्रकृतांग में प्रतिबिम्बित सामाजिक अंश

– कुमुदिनी भंडारी

जब हम किसी भी ग्रन्थ का, साहित्य का अध्ययन करते हैं, तब अनायास ही हमें उसमें अनेक आयामों का दर्शन होता है। सैद्धान्तिक, तात्त्विक, वर्णनशैली, कथासाहित्य, छंदोबद्धता, तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति इत्यादि अनेक पहलूओं पर प्रकाश पडता है । सूत्रकृतांग (२) भी इसे अपवाद नहीं है । इसमें भी अनेक आयामों का दर्शन होता है । मैंने सामाजिक परिस्थिति का आयाम चुना है । तत्कालीन समाज इसमें कैसे झलकता है इसका शोध लेने का प्रयत्न किया है ।

सूत्रकृतांग (२) के प्रथम पुण्डरीक अध्ययन में पुष्करिणी का अत्यन्त मनमोहक वर्णन है । यह वर्णन तत्कालीन समाज के सौंदर्यदृष्टि का दिग्दर्शन कराता है । जगह-जगह सुन्दर पुष्करिणियाँ होती थी । कमल के फूल का सामाजिक जीवन पर बडा ही प्रभाव था । पानी में रह कर भी अलिप्त रहने के उसके स्वभाव की उपमा, साधुओं को दी जाती थी ।

'कमल' हासिल करने आये हुए सभी दिशाओं के पुरुष क्रम से तज्जीवतच्छरीरवादी, पंचमहाभौतिकवादी, ईश्वरकारणिकवादी और नियतिवादी हैं । तत्कालीन समाज में ऐसी भिन्न-भिन्न परम्परा, विचारधाराएँ थी । उनकी एकदूसरे के साथ चर्चाएँ चलती थी, वाद-प्रतिवाद होता था, आरोप-प्रत्यारोप, उसका समाधान होता रहता था । हालाँकि उसको खण्डन-मण्डन का कठोर तार्किक स्वरूप नहीं था ।

हर एक परम्परा की मान्यता और आचरण अलग-अलग था । जैन श्रमण

का आचरण बहुत कठोर था । वे आजीवन निरन्तर ब्रह्मचर्य पालन करते थे । भिक्षा माँगकर निर्दोष आहार ग्रहण करते थे । वे अत्यन्त संयमी, यतनावान होते थे । पंचयाम-धर्म का चलन था । साथ ही साथ पार्श्वापत्य जैसे पार्श्वपरम्परा के श्रमणों का चातुर्याम धर्म भी, कहीं कहीं मौजूद था । चातुर्याम से पंचयाम में परावर्तित होने की प्रक्रिया चल रही थी । अन्य परम्परा के साधुओं का, मुनियों का, यतियों का आचरण इतना कठोर नहीं था । वे आयुर्वेदिक दवाएँ, मैथुन, परिग्रह, प्राणातिपात से निवृत्त नहीं थे । जलस्नान, अग्नितप, कन्दमूलभक्षण करते थे । दण्ड-कमण्डलु धारण करते थे । तापस गाँव में, गाँव के बाहर, जंगलों में रहते थे । कई भिक्षु मांसाहार भी करते थे । कई जैन तथा अजैन साधु नग्न रहते थे । कई तापस गुप्तचर का काम भी करते थे । समाज में कई लोग इन सबका उपहास भी करते थे लेकिन अधिक प्रमाण में गृहस्थ इनको भिक्षा देते थे, आदरसम्मान करते थे ।

समाज में 'गोत्र' संकल्पना का बडा ही प्रभाव था । आर्य-अनार्य, उच्च गोत्र-नीच गोत्र, लोग मानते थे । इनकी भाषाएँ भी अलग-अलग थी । समाज में संयुक्त कुटुम्बपद्धति का प्रचलन था । कुटुम्ब में कुटुम्बप्रमुख की सत्ता चलती थी । समाज में दास-दासी जैसी कठोर व्यवस्था भी थी । खाने-रहने के बदले, ये आजीवन सेवा करके गुजारा करते थे । इन्हें किसी भी तरह का स्वातन्त्र्य नहीं था । इनका उल्लेख हमेशा पशुओं के साथ आता है । इनको पशुओं से भी गया-गुजरा समझा जाता था । समाज में चार वर्णों का प्रचलन था । ब्राह्मणों के लिए बडे-बडे भोजों का आयोजन होता था । वणिक व्यापार करते थे ।

समाज में मन्त्र-तन्त्र, गण्डा-दोरा करनेवाले लोगों की भरमार थी । वे लोगों की असहायता का फायदा लेकर उन्हें लूटते थे । नागकुमार, यक्ष, भूत

इत्यादि का पूजन होता था । उनके लिए बलि चढाया जाता था । देवों के सामने पशुबलि देने का रिवाज था । समाज में अन्धश्रद्धा, पूजाअर्चा, कर्मकाण्ड की भरमार थी ।

अलग-अलग ४० प्रकार के विद्याओं का अध्ययन लोग करते थे । इन विद्याओं का निर्देश इस ग्रन्थ में है । लोग अनेक प्रकार के व्यवसाय करते थे, जैसे खेती, मच्छिमारी, भेडे-बकरी चराना, गोपालन इत्यादि । मसूर, चावल, तिल, उडद, मूँग, वाल इत्यादि तरह-तरह के धान खेती में उगाये जाते थे । मुख्य फसल-अन्तर फसल ऐसी व्यवस्था होती थी । तिल का तेल निकाला जाता था। खेती के लिए ऊँट, गाय, बकरी, गधे पाले जाते थे । उनको रखने के लिए बडी-बडी शालाएँ बनायी जाती थी । लोगों के घर, चारों ओर से खुले और बडे-बडे रहते थे । अतिथि के लिए घर के दरवाजे हमेशा खुले रखे जाते थे ।

मनोरंजन के लिए प्राणियों की शिकार होती थी । लोग बडे पैमाने में मांसाहारी थे ।

कई लोग उदार कामभोग भोगते थे । नाच-गाना, गहने पहनना, चन्दन जैसे सुगन्धी लेप लगाना, मालाएँ पहनना, मणि-सुवर्ण धारण करना - उनकी विलासी रहनसहन तथा समृद्धि का दर्शन कराती थी । 'लेप' श्रावक के वर्णन में हमें तत्कालीन समृद्धि का दर्शन होता है । विशाल-बहुसंख्य भवन, चांदी-सोना, गाय-भैंस, नोकर-चाकर इन सभी को 'धनस्वरूप' माना जाता था ।

लोग घूमने के लिए गाडी, रथ, घोडागाडी, पालकी आदि वाहनों का वापर करते थे । व्यापार के लिए विदेश भी जाते थे । यात्रियों के लिए रास्ते में 'उदकशाला' (प्याऊ) तथा रहने के लिए 'धर्मशाला' की व्यवस्था होती थी । इस

उदकशाला के वर्णन से हमें तत्कालीन वास्तुकला का उत्कर्ष नजर आता है ।

पुण्डरीक अध्ययन में 'राजा' का वर्णन है । उससे तत्कालीन राज्यव्यवस्था पर प्रकाश पडता है । राजा अत्यन्त कर्तव्यप्रिय होते थे । शूरवीरता उनके अंग में कूटकूट के भरी हुई थी । राजा और धर्म का सम्बन्ध बहुत गहरा था । राजा धार्मिक हुआ करते थे । राजाश्रय पाने से धर्मप्रसार आसान होता है इसलिए हर कोई राजा को प्रभावित करके अपने-अपने धर्म की प्रभावना करने का प्रयत्न करता था ।

इसके विपरीत 'क्रियास्थान' अध्ययन में विविध सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों का चित्रण है । ऐसे सामाजिक गुनाह तब भी थे, आज भी है । सिर्फ स्वरूप का बदलाव आया है । ये तो एक-ही सिक्के के दो पहलू हैं ।

◆◆◆

(८) आचारश्रुत अध्ययन : एक चिंतन

– सुमतिलाल भंडारी

सूत्रकृतांग (२) मधील ‘आचारश्रुत’ अध्ययन हे अनेक दृष्टीने वैशिष्ट्यपूर्ण आहे. या अध्ययनात साधूंच्या आचाराचे अथवा दुराचाराचे व्यावहारिक वर्णन नाही, तर सैद्धांतिक अनाचाराचे वर्णन आहे. दृष्टी व वचनाचा अनाचार म्हणजेच सैद्धांतिक अनाचार म्हणजेच एकान्तवाद. या अध्ययनात एकान्तवादाचे खंडन करून, त्याचा अव्यवहारीपणा दाखविला आहे. त्याचबरोबर अनेकान्तवादाचा व्यवहारीपणा सांगून त्याचाच वापर साधूंनी करावा असा परामर्श दिला आहे. वाणीसंयमाचे महत्त्व सांगून स्याद्वाद हाच वाणीचा आचार आहे, असे सांगितले आहे. अनेकान्तवाद व वाणीसंयम या गोष्टी साधूंकरिता त्याच्या दैनंदिन व्यवहारात, आचारात व जनसंपर्कात कशा महत्त्वपूर्ण आहेत हे सांगितले आहे. तसेच या गोष्टी केवळ धर्मात शिकावयाची तत्त्वे नसून, जीवन जगावयाची तत्त्वे आहेत, हे पटवून दिले आहे. त्यामुळे हे अध्ययन साधूंकरिता तर आहेच आहे, पण हे जनसामान्यांकरिताही आहे, हे जाणवते व हेच या अध्ययनाचे फलित आहे.

अनेकान्ताविषयी सांगताना महावीरांनी म्हटले आहे की, संपूर्ण सत्य जाणून घ्यायचे असेल तर कोणत्याही गोष्टीचा विचार एकाच दृष्टिकोणातून करून चालणार नाही. त्या गोष्टीला अनेक बाजू असू शकतात. त्या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव यांच्याशी निगडित असतात. त्यामुळे कोणतीही गोष्ट एकांगी नित्य अथवा एकांगी अनित्य असूच शकत नाही. याच दृष्टीने सांख्यांचे ‘एकान्त-नित्य’ तत्त्वज्ञान अथवा बौद्धांची ‘एकान्त-दु:खमय’ संकल्पना या अयोग्य वाटतात. महावीरांनी या दोन्ही संकल्पनांचा निषेध केला आहे व म्हटले आहे की

अनेकान्तवादानुसार कोणत्याही व्यवहाराला सर्व पर्याय असतात. म्हणून तर काही दार्शनिक जरी कर्मसिद्धांत, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक आदि संकल्पनांना मानीत नसले, तरी जैन धर्म यांना मानतो. त्यांचे अस्तित्व स्वीकारतो.

यावरून एक गोष्ट निश्चित आहे की, प्रत्येक वेळी आपलेच म्हणणे बरोबर आहे असा दुराग्रह बाळगता कामा नये. दुसऱ्याचेही म्हणणे सयुक्तिक असू शकते याचा विचार करावयास हवा. अनेकान्तवादाच्या या वैचारिक उदारतेचा उपयोग, गैरसमजुती, दूषित दुराग्रह, अहंभाव, स्वार्थी विचार, विवेकशून्यता अशा कितीतरी गोष्टी दूर करावयास होतो. या वैचारिक उदारतेचा स्त्रियांकरिता उपयोग करणाऱ्यांमध्ये महावीर अग्रणी होते. त्यांनी स्त्रियांना पुरुषांच्या बरोबरीने समानतेची वागणूक दिली. त्यांना संघात दीक्षा दिली. त्यांना संघप्रमुख करून त्यांच्यावर जबाबदाऱ्या टाकल्या.

व्यवहारातही अनेकान्तवाद अनेक ठिकाणी वापरलेला दिसतो. स्त्रियांकरिता आरक्षण, विधवा पुनर्विवाह, संसद व विरोधी पक्ष, भारताची सर्वंकष राज्यघटना ही काही त्याची उदाहरणे आहेत. मात्र त्याचबरोबर संप, जाळपोळ, मारामाऱ्या, दगडफेक आदि एकान्तवादाचा आश्रय घेणाऱ्या घटना, अनेकान्तवादाचा पुरस्कार करणाऱ्यांची शोकांतिका दर्शवितात.

अर्थात् अनेकान्तवादालाही मर्यादा आहेत. धार्मिक बाबतीत जिनांनी सांगितलेली षड्द्रव्ये, नऊ तत्त्वे, मोक्ष, सिद्धशिला आदि संकल्पनांवर श्रद्धा ठेवावयासच हवी. तसेच व्यवहारी जगतातील खून, बलात्कार, भ्रष्टाचार, देशद्रोह या गोष्टी निंदनीयच आहेत. या दोन्ही प्रकारात अनेकान्तवाद वापरताच येत नाही. किंबहुना, महावीरांनी त्या काळी वैदिक कर्मकांडाला केलेला विरोध हा अनेकान्तवादाची मर्यादा ओळखूनच केला असावा, असाही विचार मनात येतो.

वर उल्लेखिलेला अनेकान्तवाद कोणी व कसा आचरणात आणायचा हा आजच्या काळातील मोठा यक्षप्रश्न आहे. दोन व्यक्ती अथवा दोन पक्ष समोरासमोर आल्यावर, वैचारिक उदारता प्रथम कोणी दाखवायची व कोण कोणाचे ऐकून घेणार आहे हा प्रश्नच आहे. उलटपक्षी जो कोणी प्रथम नमते घेईल, त्याला भित्रा, बुळा असेही संबोधले जाईल. त्यामुळे अनेकान्तवाद सामान्य व्यक्तीच्या आटोक्याबाहेरचा आहे असे वाटते. याउलट ज्यांच्यामध्ये तात्त्विक विचारांची बैठक आहे, आत्मौपम्य बुद्धी आहे व सहनशीलता आहे, अशी विवेकी मंडळीच त्याचे आचरण करू शकतील, त्याचा विचार करू शकतील असेही वाटू लागते.

वाणीसंयमाचे महत्त्व तर महावीरांनी अनेक उपदेशातून पटवून दिले आहे. जिभेवर ताबा असेल तरच साधूचे अस्तित्व टिकून राहते. त्याची जनमानसातील प्रतिमा उंचावते. नाहीतर ती रसातळाला जावयास वेळ लागत नाही. त्याचबरोबर वाणीचा संबंध हिंसेशी असल्याने पापमय प्रवृत्तींना उत्तेजन देणाऱ्या भाषेचा वापर टाळावा लागतो. तसेच निश्चयात्मक, हेकेखोर, आक्रमक, एकांगी बोलणे टाळावे लागते. हे जरी सगळे खरे असले तरी समाजातील वाईट प्रवृत्तींना आळा घालण्यासाठी, साधूंना, वेळप्रसंगी प्रवचनातून दोन खडे बोलही सुनवावे लागतात, नव्हे ते त्यांचे कर्तव्य ठरते, हे आपण पाहतो.

सर्वसामान्यांच्या बाबतीतही वाणीसंयमाचे महत्त्व पदोपदी जाणवते. वर्तमानपत्रातून येणारी उच्चपदस्थांची बेजबाबदार वक्तव्ये देशाची प्रतिमा मलिन करताना दिसतात. तसेच अनेक तथाकथित लोकमान्य संतांचे अशोभनीय आचरण शरमेने मान खाली घालावयास लावते.

थोडक्यात, साधूंची समाजाकडे पाहण्याची दृष्टी कशी असावी, त्यांचा वाणीसंयम कसा महत्त्वाचा आहे, त्याचबरोबर त्यांची विधाने द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव लक्षात ठेवून अनेकान्तवादाने केलेली असावीत, त्याला निश्चयनयाबरोबर व्यवहारनयाचीही जोड असावी या गोष्टी या अध्ययनात अधोरेखित केलेल्या दिसतात. तसेच हा उपदेश जनसामान्यांकरिताही तेवढाच महत्त्वपूर्ण आहे, याचीही प्रकर्षाने जाणीव होते. अर्थात् सर्वच गोष्टींना मर्यादा असतात, हेही विसरून चालणार नाही.

तरीसुद्धा 'अनेकान्तवाद' हे महावीरांचे जैन धर्माला दिलेले मोठे योगदान ठरते, यात शंकाच नाही.

◆◆◆

(९) सूत्रकृतांगाचे दोन श्रुतस्कंध : तौलनिक विचार

– रेखा छाजेड

प्रस्तावना :

भ. महावीरांच्या पूर्वीचे तसेच भ. महावीरकालीन भारतातील सर्व दर्शनांचा विचार जर कोणत्या एकाच ग्रंथातून जाणून घ्यायचा असेल तर तो 'सूत्रकृतांगा'तून घेता येईल. जैन परंपरेने मांडलेला विचार आणि आचाराचा सुंदर समन्वय येथे आहे. हा वैचारिक ग्रंथ आहे. याची भाषा प्राकृत असून सर्वजनहितकारी आहे. अर्धमागधी भाषेचा हा प्राचीन नमुना आहे. अंगसूत्रात याचे दुसरे स्थान आहे.

तुलना :

प्रथम श्रुतस्कंधाचा बराचसा भाग पद्यमय आहे. यामध्ये १६ अध्ययने असून काहींना उद्देशक आहेत. १६ पैकी ७ अध्ययनांची सुरवात प्रश्नोत्तराने होते. फक्त १६ वे अध्ययन गद्यमय आहे. तर दुसराश्रुतस्कंध मुख्यत: गद्यमय आहे. यात ७ अध्ययने असून, उद्देशक नाहीत. दोन्ही श्रुतस्कंधात तत्त्वज्ञानाला आचारधर्माची सुंदर जोड दिलेली आहे. स्वमत-परमताच्या रूपात जैन आणि जैनेतर (दार्शनिक) अशा दोन्ही परंपरांच्या मतांचा उल्लेख आहे. दोन्हीत त्या काळच्या दर्शनांची चर्चा; जैनांची जीव-अजीव इ. ९ तत्त्वे; तसेच अनेक परमतांचे विवेचन असून स्वमताचे माहात्म्य वर्णन केले आहे. जीवन व्यवहाराचा उच्च आदर्श सांगितला आहे.

श्रुतस्कंध १ :

१)	समय	–	अहिंसा सिद्धांत
२)	वैतालीय	–	वैराग्याचा उपदेश
३)	उपसर्ग	–	संयमी जीवनात येणाऱ्या विघ्नांचे वर्णन

४) स्त्री-परिज्ञा - ब्रह्मचर्यघातक विघ्नांचे वर्णन

५) नरक - नरकातील दु:खांचे वर्णन

६) वीरस्तुती - महावीरांची स्तुती वर्णन

७) कुशील - चारित्रहीन व्यक्तीचे वर्णन

८) वीर्य - शुभाशुभ प्रयत्नांचे वर्णन

९) धर्म - धर्माचे वर्णन

१०) समाधि - धर्मातील स्थिरतेचे वर्णन

११) मार्ग - संसार-बंधनातून मुक्त होण्याचा मार्ग

१२) समवसरण - क्रिया-अक्रिया-विनय-अज्ञानाचे वर्णन

१३) याथातथ्य - मानवी मनाचे सुंदर वर्णन

१४) ग्रंथ - ज्ञानप्राप्तीच्या मार्गाचे वर्णन

१५) आदानीय - महावीरांच्या उपदेशाचे सार

१६) गाथा - गद्यमय असून भिक्षूचे वर्णन.

अशा प्रकारे प्रत्येक अध्ययनाचे शीर्षक जरी वेगळे असले तरी त्यात विचारांची साखळी गुंफली आहे. विषय नजरेतून सुटू नयेत म्हणून विषयांची पुनरावृत्ती फार आहे. अनेकदा व्यापक विचार मांडले आहेत. यात एक प्रकारे 'मानसशास्त्र'ही आहे. कसे वागा, कसे वागू नका याचा भरपूर विचार मांडला आहे. उत्तम श्रावकाचे उदाहरणात्मक वर्णन नाही. पण त्याच्या अंगी कोणते गुण असावेत याचे विस्तृत वर्णन आहे.

श्रुतस्कंध २ :

प्रत्येक अध्ययन वेगळे पण पूर्ण स्वतंत्र आहे. विषयांची विविधता अनेक पैलूतून मांडली आहे. सर्व विषय अर्थपूर्ण, परिणामकारक आहेत. सर्व अध्ययनात काळाच्या पुढचे विवेचन आहे.

१) **पौण्डरिक :** गद्यमय-विभिन्न संप्रदायांच्या भिक्षूंचे वर्णन. सदाचारी, सुसंयमी पुरुषच सफल होतो असे प्रतिपादन.

२) **क्रियास्थान :** प्रतिक्षणी केलेल्या वर्तनाला जैन दर्शनात किती महत्त्व आहे ते १२ क्रियांतून व १८ पापस्थानांतून दिसते.

३) **आहारपरिज्ञा :** वाचकाचा प्रथमदर्शनी अपेक्षाभंग होतो. कारण जैनआचारात अवाजवी महत्त्वाचा असलेला 'आहाराचा त्याग' कोठेही सांगितला नाही. प्रत्याख्यान शब्दच नाही. संथारा नाही. आध्यात्मिक उपदेश देणे नाही. जीव एकमेकांवर उपकार करतात असेही नाही. 'जीवो जीवस्य जीवनम्' हे ब्रीदवाक्य. त्यांना विदित असलेले जे जे जीवशास्त्रीय आणि वनस्पतिशास्त्रीय ज्ञान त्यावेळी होते ते आपल्यापर्यंत पोहोचवले. 'पहा' व 'जाणा' हेच सांगितले.

४) **प्रत्याख्यानक्रिया :** त्यागाचे, नियमांचे स्वरूप व वर्णन. हा पूर्ण अध्याय असला तरी त्याचे परिशिष्ट पुढे 'नालंदा' मधूनही केले आहे. अनुकूलता असते त्यावेळी संयमाचे महत्त्व. अंत:प्रेरणेला लगाम घाला. १८ पापस्थानांचे प्रत्याख्यान करा.

५) **आचारश्रुत :** खास सांगितलेला जो साधुविषयक रूढाचार आहे, त्याच्याबद्दल एकही वाक्य नाही. जसे-पंचमहाव्रत, गुप्ती, समिती, दशविधधर्म इ. हा अध्याय वाक्समितीवर आधारित आहे.

६) **आर्द्रकीय :** महावीर किती व्यवहारवादी होते त्याचा हा अध्याय द्योतक आहे. तो प्रश्नोत्तरातून उलगडत जातो. शंका व त्याला दिलेले उत्तर यात आहे. शंका-समाधान जरी असले तरी काही ठिकाणी दिलेली उत्तरे पटत नाहीत.

◆ ◆ ◆

(१०) सूत्रकृतांगाच्या द्वितीय श्रुतस्कंधाचे सार

– शकुंतला चोरडिया

सूत्रकृतांगच्या अथांग ज्ञानसागरात डुबकी मारली
सात अध्ययनातून सात विचारांची पाने उलगडली

पुण्डरीक

१) संसाररूपी पुष्करणी कषाययुक्त कर्मरूपी पाण्याने भरली कामभोगाच्या दलदलीत आर्यरूपी कमळे उमलली चार वादींची भेट झाली, पुष्करणीतील श्रेष्ठ पुण्डरीक-कमल घेण्यासाठी धडपड चालली.

अज्ञानाची कास धरली आणि एकमेकांना कमी लेखत लेखत त्यांची इच्छितापासून भटकंती झाली सिद्ध मार्ग जाणणाऱ्या साधकाने मात्र आध्यात्मिक उन्नतीच्या बळावर इष्टाची प्राप्ती केली ।।

क्रियास्थान –

२) भटकंती झालेले अज्ञानी आशा, आकांक्षा, हव्यास, अत्याचार, अनाचारांच्या बारा क्रियास्थानात अडकले आणि अधर्मस्थानात रमत गेले. विवेकाचा त्याग करून निष्प्रयोजनाने हिंसा करण्यात मग्न झाले. चाळीस प्रकारच्या पापश्रुतात स्वत:ला झोकत राहिले. पारिवारिक मोहाच्या पसाऱ्याने अर्थदंडात हरवले. अनर्थदंडाच्या पापाने जन्ममरणाच्या परंपरेत फिरत राहिले. तेराव्या इयापथिकी क्रियास्थानातले धर्मस्थानात जागृत झाले. आत्मार्थी, पुरुषार्थी, मोक्षार्थी बनून निवृत्तीच्या मार्गावर चालू लागले ।।

महापरिज्ञा –

३) जन्ममरणाच्या परंपरेत अडकलेले आहारपरिज्ञेचे अभ्यासू झाले. आहाराशी संबंधित साऱ्या सावद्य क्रियेत प्रवृत्त झाले. 'जसा आहार, जशा भावना तसे गतीतील परिभ्रमण', हा कर्मसिद्धांत मात्र ते विसरले. त्रस-स्थावर एकमेकांचा आधार म्हणून मित्र झाले आणि एकमेकांना खाऊनच जीवन जगू लागले. ओजआहार, प्रक्षेपआहार, कवलआहार असे आहाराचे विभाजन केले. सबल म्हणवणाऱ्या माणसाने निर्बल अशा प्राण्यांचे प्राण घेतले. आहाराचा विवेक करणारे हिंसेपासून दूर होऊ लागले. त्याग, विरति, प्रतिज्ञा, संकल्प करून यतनावान होऊन विचरण करू लागले ।।

प्रत्याख्यानक्रिया –

४) कर्मसिद्धांत न जाणणाऱ्याने मानवी मनात दडलेल्या अठरा पापस्थानांच्या अंत:प्रवृत्तीचे वेळोवेळी प्रसंगाप्रसंगाला प्रदर्शन केले. त्यातून मुक्त व्हायचेच नाही म्हणून अप्रत्याख्यानी बनून पापकर्माच्या बंधनाचे जाळे विणले. जीवन जगण्याच्या मुख्य गरजा, 'अन्न, पाणी, निवाऱ्या'साठी हिंसेचे थैमान घातले. मन-वचन-कायेच्या वक्रतेने आत्म्याचे भान विसरून जन्म-मृत्यूच्या चक्रात गुरफटले. सदाचारी, सद्विचारी अनिच्छेने टाळता येतच नाही अशा हिंसेचे भागीदार जरी बनले, तरी पश्चात्ताप करून, क्षमाभाव धरून, प्रायश्चित्त घेऊन प्रत्याख्यानी बनले आणि उच्च गतीकडे मार्गक्रमणा करू लागले ।।

आचारश्रुत –

५) मन-वचन-कायेच्या वक्रतेने मिथ्या धारणेच्या आहारी गेले. सत्याची ओळख न झाल्याने अर्थरहित तत्त्वाने मोक्षमार्गाचे विराधक बनले. जग

एकांत नित्य-एकांत अनित्य, भवीजीव मोक्षगामी, बाकी सारे संसारी. सूक्ष्माची हिंसा किंवा त्रसांची हिंसा पाप सारखेच, उद्दिष्ट आहार करणारे साधू आधाकर्मीच, अशी अनेक प्रकारची विधाने करून अनाचाराला गाठले, वाणीचे बंधन सोडले. एकांतवादी बनून वादविवादाला पाचारण केले. आशुप्रज्ञ बुद्धिमानांनी, साधकांनी वचनगुप्ती साधून अनेकांत दृष्टीने चिंतन केले. आणि श्रुत चारित्र्यरूपी धर्माला, सद्भावाच्या सत्तेला मानले. कर्माने बांधलेल्या, कर्मातून कर्मानेच सुटका होते हे जाणून, सर्व प्राणिमात्रांवर मैत्रीभाव ठेवून गुणग्राहकतेने माध्यस्थभावाने उत्कृष्ट संयमाचे अनुष्ठान केले ।।

आर्द्रकीय -

६) वचनगुप्ती साधलेल्या महावीरांच्या परमभक्त 'आर्द्रका'ने, 'गोशालका'च्या उपहासाने गुरूंच्या व्यापारी, डरपोक म्हणून केलेल्या टीकेला, मार्मिक उत्तर दिले. जीवात्म्याला एकांत सर्वव्यापक, नित्य मानणारे, ज्ञानानेच मुक्ती होते असे तत्त्व प्रतिपादन करणाऱ्या सांख्यांना क्रियारहित ज्ञानाने मुक्ती मिळत नाही हे पटवून दिले. दोन हजार ब्राह्मणांना भोजन करवणारे, माणसाला खळीचा पिंड, बालकाला भोपळा म्हणून शिजविणारे 'शाक्य', एका मोठ्या हत्तीची हत्या करून वर्षभर त्याचा आहार करणारे 'हस्तितापस' कसे मिथ्याधारणेत गुंगले आणि देवगतीचे वारस होणार या भ्रमात राहिले. त्यांना आद्रर्काने समर्पक उत्तर देऊन सावद्य-क्रिया आणि उद्दिष्ट-आहाराचा त्याग करून निष्कपट भावाने उत्कृष्ट साधक कसे व्हावे, हे पटवून दिले।।

नालंदीय –

७) विशाल सरोवरात रहाणाऱ्या ‘नाल’ नागाच्या नावाने ‘नालंदा’ प्रसिद्ध झाली आणि मनमोहक नैसर्गिक वनश्रीने बहरली. महावीरांच्या चौदा चातुर्मासिक काळाच्या वास्तव्याने ही धरती पावन झाली. ज्ञानी, ध्यानी, त्यागी लोकांची कर्मभूमी बनली.

हस्तियाम वनखंडात वास्तव्य करणाऱ्या पेढालपुत्राच्या मनात प्रत्याखानाबद्दल शंका उद्‌भवली प्रत्याख्यान देणारे घेणारे पापाचे भागीदार असल्याची टोचणी मनाला लागली. गौतमांनी शंका निरसन करून ९ भंगाने प्रत्याख्यान-पालनाची दिशा दाखविली. ‘प्रत्याख्यान कसे सुप्रत्याख्यान’, हे सांगून गुरुदरबारी त्यांची हजेरी लावली ।।

◆◆◆

(११) हस्तितापसांना यथोचित उत्तर

– साधना देसडला

आर्द्रककुमार जातिस्मरणामुळे दीक्षा घेऊन भ. महावीरांच्या दर्शनासाठी आर्य देशात येतात. वाटेत त्यांना गोशालक व अन्य मतावलंबी लोक भेटतात. प्रत्येकजण स्वत:च्या धर्मात येण्यासाठी आपला धर्म कसा श्रेष्ठ व अंगीकार करण्यास सोपा आहे, हे सिद्ध करू पाहतात. शेवटी हस्तितापस भेटतात. ते म्हणतात, 'आम्ही वर्षातून एकदाच एक हत्ती मारतो व त्याचाच वर्षभर आहारासाठी उपयोग करतो. अशाने एकाच जीवाची हत्या होते व पुष्कळ जीवांची हत्या वाचते.'

आर्द्रकीय अध्ययनात ५३ व्या गाथेत या आक्षेपाला अत्यंत संक्षिप्त उत्तर दिले आहे. ते असे – ''वर्षभर एकाच प्राण्याचा घात करणारेही जीव हिंसेपासून निवृत्त होऊ शकत नाहीत. तुमच्या या विचारानुसार गृहस्थही अन्य क्षेत्र-कालवर्ती जीवांची हिंसा करीत नाहीत. म्हणून त्यांनाही निर्दोष, अहिंसक मानावे लागेल.''

वस्तुत: हे उत्तर काही समाधानकारक नाही. याची थोडी तरी विस्तृत मीमांसा आवश्यक होती. पुढे विकसित झालेला साधुआचार आणि शाकाहारविषयक मान्यता जैन धारणांच्या सहाय्याने पुढील मुद्यात देता येतील.

आर्द्रकमुनींच्या उत्तरात पुढील मुद्दे अध्याहृत होते –

१) हिंसा-अहिंसेचे मापदंड मृत जीवांची संख्या नसून, प्राण्यांची चेतना, इंद्रिये, मन व शरीराचा विकास व मारणाऱ्याचे तीव्र-मंदभाव यावर अवलंबून असते.

२) हत्तीसारख्या विशालकाय, विकसित, चेतनशील प्राण्याला मारणारा, हिंसा दोषांपासून निवृत्त होऊ शकत नाही. त्यांच्या आश्रित राहणाऱ्या प्राण्यांचा तसेच मांस, रक्त, चरबी यात राहणाऱ्या, उत्पन्न होणाऱ्या अनेक त्रस-स्थावर जीवांचा घात होतो.

३) थोड्या जीवांना मारणारे अहिंसक म्हटले तर मर्यादित हिंसा करणारे गृहस्थ तर हिंसा दोषरहित मानले जातील. गृहस्थ त्रस सोडून (गाथापति-चोर-ग्रहण-विमोक्षण-न्याय) स्थावरांची मर्यादा घेऊन, बाकीच्या स्थावरांचे प्रत्याख्यान घेऊन हिंसा दोषाचे प्रमाण कमी करतात.

४) सप्त कुव्यसनात पण मांस निषिद्ध मानले जाते.

५) जैन साधू तर ईर्यासमितीने युक्त, भिक्षेच्या ४२ दोषांपासून रहित, यथालाभ संतुष्ट होऊन आहार घेतात.

६) 'सर्व जीव समान', असे म्हणून सन्नी पंचेंद्रिय मारणे म्हणजे दहा बलप्राण मारणे होय. एकेंद्रियात चार बलप्राण आहेत.

७) शिवाय आपण, वनस्पती शंभर पटीने वाढवू शकतो पण एक हत्ती मारला तर एक वंशच नाश पावतो.

८) पंचेंद्रियांची हत्या करणाऱ्या नरकगामी हस्तितापसांजवळ जास्त वेळ न घालवता आपण अहिंसा पाळणाऱ्या, मोक्षगामी भ. महावीरांच्या दर्शनाला लवकर जावे, या उद्देशाने आर्द्रकमुनी तेथून थोडक्यात उत्तर देऊन निघतात.

९) जैन साधू तर भ्रमरवृत्तीप्रमाणे गोचरी घेतात (दशवैकालिक-दुमफप्फिया-अध्ययन १) उद्दिष्ट आहार घेत नाहीत. हस्तितापसांप्रमाणे वर्षभराची तरतूद व अन्नाबद्दलची आसक्ती न ठेवता, रोजची रोज गोचरी घेतात.

१०) मांस कच्चे असो, शिजविले जात असो किंवा शिजविलेले असो, तिन्ही अवस्थांमध्ये अनंत निगोदिया जीवांची उत्पत्ती होत असते, अशी मान्यता अनेक जैन आचार्य नोंदवितात.

खरे तर कोणत्याही अन्नात, थोड्या काळानंतर त्रसजीवांची उत्पत्ती होत असते. ज्यात त्रसजीव जास्त ते अन्न निषिद्ध आहे. मांसात निरंतर जीवोत्पत्ती होतच असते. नुसता स्पर्श केला तरी जीवहत्या होते.

११) मनुस्मृतीसारख्या ब्राह्मणधर्मीय ग्रंथात म्हटले आहे -

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः ।।

अर्थात्, प्राण्यांच्या वधाची आज्ञा देणारा, शरीरावर घाव करणारा, मारणारा, खरेदी करणारा, विकणारा, शिजवणारा, वाढणारा, खाणारा ह्या सर्व आठही व्यक्ती घातक आहेत.

१२) मांस खाणाऱ्याला परमधामी देव म्हणतात -

तुहं पियाइं मंसाइं खण्डाइं सोल्लगाणि य ।
खाविओ मि समंसाइं अग्गिवण्णाइं णेगसो ।। उत्तराध्ययन १९.७०

१३) श्रेणिक राजा देखील पंचेंद्रिय हत्येमुळे नरकात गेले - अशी जैन पौराणिक मान्यता आहे.

१४) सव्वे जीवा सुहसाया दुहपडिकूला । सव्वेसिं जीवियं पियं ।। आचारांग या सहअस्तित्वाच्या जीवनसूत्रांचा सर्वांनीच विचार करून जो प्राकृतिक आहार आहे, सहज उपलब्ध आहे, त्याचाच स्वीकार करावा.

हस्तितापस मनाला पटत नाहीत. एकाच प्रकारचे अन्न रोजच वर्षभर खाणे हे रुचत नाही. नुसताच मांसाहार पण करतील असे वाटत नाही. संयमपथावर जाणारे निरवद्य आहारच घेतात.

◆◆◆

(१२) सद्य:कालीन परिप्रेक्ष्य में सूत्रकृतांग

– मंगला गोठी

अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान का वर्णन 'क्रियास्थान' नामक दूसरे अध्ययन में आया है । जो तेरह क्रियास्थान बताये गये हैं, उनमें से ये आठवाँ क्रियास्थान हैं । संक्षेप में इसका अर्थ यह है कि किसी ने हमें कष्ट नहीं पहुँचाया, फिर भी मन विषाद और निराशा से भरा हुआ है । इसका कारण है क्रोध, मान, माया, लोभ ये चित्त में समाये हुए चार कषाय ।

मकडी के जाल के समान, हम खुद को ही नकारात्मक सोच के जाल में बन्दी बनाकर उसमें जकडते चले जाते हैं । मैं तो समझती हूँ कि, आज का मनुष्य सबसे ज्यादा अध्यात्मप्रत्ययिक का ही शिकार बना हुआ है । दहशतवाद, गुण्डागर्दी, अत्याचार और खून की होली खेलनेवाले ये सब मुठ्ठीभर लोग स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं । लेकिन खुद को ही खोखला बनानेवाला अध्यात्मप्रत्ययिक रोग (नासूर) की तरह बढता ही जा रहा है । ये नकारात्मक सोच स्लो पॉइझन का काम कर रही है ।

इसके महाभयंकर परिणाम अब हमारे सामने वास्तविक रूप से उभरकर आ रहे हैं । ब्लडप्रेशर, डिप्रेशन, अल्जायमर, स्क्रिझोफेनिया ये सब इसी सोच के परिणाम हैं । आजकल तो बचपन में ही इसका बीज बोया जाता है । शिक्षा, खेल, कला जैसी हुनर में बढती हुई स्पर्धारूपी कषाय ने, बच्चों की निरागसता छीन ली है । परिणाम – बातबात पे चिडचिडापन, जिद्दी स्वभाव, दूसरों को कम लेखना, बडों का आदर न करना, ये अब 'घर घर की कहानी' बन गयी है ।

बात घर की ही आ गयी है, तो हम उसी पे थोडा प्रकाश डाले । पहले की तरह ना तो हम पारतंत्र्य में जी रहे हैं, ना बडी बडी नैसर्गिक आपत्ति का

शिकार बने हैं, ना तो प्लेग या (बडी माता) जैसे महाभयंकर प्रकोप से घर के घर बेघर हो रहे हैं । परन्तु हम अपने ही घर में बेघर हो रहे हैं, वो हमारे ही खुद के चार कषाय के कारण । मन का सुख पाने के प्रयास में हम आत्मिक सुख खो बैठे हैं । ये बात विस्तृत करने के लिए कवि की एक पंक्ति ही काफी है – ''अमृत घट भरले तुझिया दारी, का वणवण फिरसी बाजारी ।''

हमारे चार कषाय ही चार वादियों के समान आत्मरूपी 'पद्मवरपुण्डरीक' को ऊपर उठाने के बजाय, कर्मरूपी कीचड में फँसाते जा रहे हैं । खुद की ही दिशाभूल कर रहे हैं । निराशा से भरा हुआ मन क्या 'आहार-परिज्ञा' का पालन करेगा ? उसे भूलाने के लिए ज्यादा आहार ग्रहण किया जाता है, या उसे छिपाने के लिए उपवास का सहारा लिया जाता है । जब हम निजी जिंदगी से ही उभर नहीं पाते, तो सम्पूर्ण जगत् के सजीवता का क्या अनुभव करेंगे ? 'प्रत्याख्यान' तो बहुत दूर की बात है । विषादभरा एकांगी दृष्टिकोण खुद के अलग-अलग आयामों को समझने में असमर्थ है, तो अनेकान्तवाद जैसा परिपूर्ण सिद्धान्त क्या हम जानें ? लेकिन हाँ ! 'आर्द्रक' ने 'गोशालक' को दिया हुआ जवाब मुझे यहाँ सर्वथा उचित और योग्य दिखाई देता है । ऐसे लोग अनेक लोगों से घिरे होने के बावजूद भी, उनका एकान्तवास चालू रहता है । वे हमेशा अलिप्त रहते हैं । 'स्थिति' एकसमान है, लेकिन आन्तरिक भाव डोरी के दो छोर । भ. महावीर की एकान्तवास की तार, आत्मा से जुडी हुई थी और अध्यात्मप्रत्ययिक का दोष लगनेवाले की तार, मन जैसे पुद्गल परमाणु से जुडी हुई है । एक छोर मोक्ष की तरफ जाता है, तो दूसरा छोर संसारचक्र में गिरा देता है ।

◆ ◆ ◆

(१३) अद्दगस्स कहाणयं

– आशा कांकरिया

तेणं कालेणं तेणं समएणं अणज्ज-विसए अद्दगपुरं नाम नयरं होत्था । तत्थ अद्दग-राया रज्जं करेइ । तस्स पुत्तो वि 'अद्दगकुमार' नामेण पसिद्धो ।

तम्हि समए आरियखेत्तठियस्स रायगिहस्स राया सेणिओ आसी । तस्स पुत्तो चउव्विहबुद्धीहिं संजुत्तो अभयकुमरो ।

एगया अद्दगराइणा सेणियस्स कए दूयहत्थेण बहुमोल्लं पाहुडं पेसियं । अद्दगकुमारेण वि अभयस्स कए काइं वत्थूणि पाहुडरूवेण पेसियाणि । दुवे पाहुडाणि घेऊण अद्दगराइणो दूओ सेणियस्स अत्थाणमंडवे पविट्ठो । सेणिएण तस्स जहोचियं बहुमाणो कओ । पाहुडाणि अंगीकयाणि ।

जया सेणिएण अद्दगराइणो कए पडिपाहुडं सज्जीकयं तथा अभयकुमरेण वि अद्दगकुमरस्स कए विसिट्ठं पडिपाहुडं सज्जीकयं । अभयकुमरेण नाणस्स उवओगेण जाणियं, 'अद्दगकुमारो परमट्ठेण भविजीवो अत्थि ।' तस्स पडिबोहत्थं अभयकुमरेण एगाए मंजूसियाए एगा अप्पडिमा जिणपडिमा तहा मुहपत्ती ठविया। सा मंजूसा दूयहत्थेण तस्स कए पेसिया ।

मंजूसियं पासिऊण अद्दगकुमारेण कोऊहलवसेण तुरियं तुरियं सा उग्घाडिया। जिणपडिमं, मुहपत्तिं च दट्ठूण सो मणम्मि चिंतिउण लग्गो, 'एयाणि वत्थूणि मए पुव्विं कत्तो वि पासियाणि ।' एयावसरे तस्स जाइसरणं समुप्पन्नं । सो सरइ जहा– ''वसंतपुरम्मि नयरे अहं एगो उवासगो होत्था । संसारस्स असारत्तं मुणिऊण अहं भज्जाए सह पव्वइओ । सामण्णे वि एगया भज्जं पासिऊण तम्मि अणुरत्तो जाओ। मए तस्स अइचारस्स आलोयणा न कया । अणालोइय –अपडिक्कंत–

अवत्थाए कालमासे कालं किच्चा देवलोगम्मि उववन्नो । देवलोगाओ चइऊण अहं अद्दगपुत्तो त्ति जाओ ।''

एयारिसो अप्पणो पुव्वभववुत्तंतं जाणिऊण अद्दगो संसाराओ विरत्तो जाओ। आरियदेसे आगंतूण सो जिणसासणे पव्वइओ । भगवं वद्धमाणस्स दंसणट्ठं तेण विहारजत्ता आरद्धा । मग्गम्मि तस्स गोसालओ, हत्थितावसो, परिव्वायगो, बुद्धभिक्खु इच्चेइयाइं परदंसणवाइणो मिलिया ।

ते सव्वे अप्पणो दंसणाइं परमट्ठरूवेण कहेंति । निग्गंथधम्मं उवलक्खिऊण उवहासपरं भासंति । अद्दगेण एगेगस्स कहणं सुणियं । तेसिं निराकरणं कयं । निग्गंथधम्मस्स महत्तणं तेण अणुजुत्तीहिं साहियं । एवंपयारेण अद्दगेण सव्वे परसमयवाइणो पराइया ।

मग्गे तेसिं सव्वेसिं सह अद्दगस्स जो वायपडिवायं होइ तस्स संकलणं सूयगडस्स बीयंसुयक्खंधस्स 'अद्दइज्ज' अज्झयणे दीसइ ।

सूयगडस्स ससमय-परसमय-रूवेण जा पसिद्धी सा अद्दइज्ज-अज्झयणे सविसेसं दीसइ ।

◆ ◆ ◆

(१४) हस्तितापस के मत का संभाव्य खण्डन

– संगीता मुनोत

वध तो बस वध है, हस्तितापस का है यह कहना
भावों के परिणामों को, लेकिन उसने कहाँ पहचाना ।
भोगरूप आमिषरत प्राणी, स्थूलरूप हिंसा कर जाना
सूक्ष्मता में इसकी छिपा है, जीवन का सत्य खजाना ।।

सूत्रकृतांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 'आर्द्रकीय' नामक छठाँ अध्ययन है। उसमें आर्द्रकमुनि, गोशालक आदि अन्यमतावलम्बियों को प्रश्नों का उत्तर देते हैं । उसी श्रृंखला में नित्य वनस्पति छेदन की अपेक्षा, एक बार हस्तिवध करना – कम पापमय है, इस मिथ्याधारणा को हस्तितापस उचित मानते हैं । आर्द्रकमुनि उसके इस भ्रम को सत्य कथनों से दूर करते हैं । 'पंचेन्द्रिय वध में ज्यादा पाप है', इसी विषय को लेकर कुछ और तथ्यों को आपके समक्ष रखना चाहती हूँ।

यदि हम एक ही सत्य माने कि, 'सब आत्मा समान हैं और सबको मारने में एक समान पाप है', तो फिर 'शाकाहार-मांसाहार' में भेद ही नहीं रहता । भक्ष्य-अभक्ष्य का भेद नहीं होता । क्यों लोग खेती करते ? क्यों भ. ऋषभदेव लोगों को असि-मसि-कृषि सिखाते ? बस ! एक ही प्राणी मारो और साल भर तक खाते रहो ।

जैनदर्शन में जीवों का वर्गीकरण बहुत सूक्ष्मतापूर्वक किया गया है । एकेन्द्रिय जीव से उसका विकास होते-होते, अनन्त पुण्य का संचय होने पर उसको पाँच परिपूर्ण इन्द्रियाँ मिलती हैं । दस प्राण और छह पर्याप्तियाँ मिलती हैं । पुनर्जन्म को माननेवाले अन्यधर्म भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जीव

८४ लाख योनि से भटककर जब पुण्य का संचय और बुरे कर्मों का क्षय करता है तब उसे पाँचों इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीर तथा मन की प्राप्ति होती है । उसमें भी ज्ञान, दर्शन, योग, उपयोग आदि गुणों का प्रकटीकरण भी पंचेन्द्रिय में ज्यादा होता है । जिससे वह व्रत-प्रत्याख्यान करने की क्षमता रखता है, कर्म काटने का सामर्थ्य रखता है । इसीलिए तो आगम में, नरक में जाने के चार कारणों में एक कारण, 'पंचेन्द्रिय का वध' स्पष्ट रूप से दिया है न कि 'एकेन्द्रिय' ।

एकेन्द्रिय जीव की हिंसा हम प्राय: अर्थदण्ड के लिए करते हैं, अपनी जीवनचर्या चलाने के लिए करते हैं । परन्तु पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा प्राय: जिह्वा की लोलुपता के लिए, निर्दयता से, क्रूर भावों से की जाती है । इससे 'जीवन-चक्र' बिगडता है । यह 'अनर्थदण्ड' है, इसमें ज्यादा पाप है । यह समझाने के लिए हम आज के परिवेश से अनेकों उदाहरण दे सकते हैं ।

जैसे - एक प्रधानमंत्री की आत्मा और एक भिखारी की आत्मा समान है फिर भी यदि प्रधानमंत्री मरता है तो राष्ट्रीय शोक और भिखारी मरे तो किसी को पता भी नहीं चलता ।

एक नकली हार है और दूसरा सोने में भी हिरे-पन्ने से जुडा हुआ है । दोनों में से किसके गुम होने पर ज्यादा दुख होगा ? अर्थात्, जिसका मोल, सुन्दरता, उपयोगिता अधिक, उसका गुम होना अधिक दु:खदायक होगा ।

ऐसे अनेकों तथ्य और उदाहरण हैं फिर भी उससे भी कहीं ज्यादा मायने रखती है, 'हमारी खाने के प्रति आसक्ति', जो इन भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक न रखने के कारण पाप को बढावा देती है ।

माना कि हरेक आत्मा समान है । इसको नकारा भी नहीं जा सकता ।

फिर भी उनकी विशेषताओं में तो फर्क है । इसलिए भ. महावीर ने कहा है कि, 'नय' और 'कर्मसिद्धान्त' का आधार लेकर, किसी तथ्य की सत्यता का निर्णय लिया जाता है । इसकी पुष्टि के लिए 'आचारांग' और 'उत्तराध्ययन' में अनेकों उदाहरण मिलते हैं ।

आखिर में, मैं कहना चाहती हूँ कि – 'क्या हमारा पेट मरघट है जो जीवों को मारों, उसमें डालते रहो ?'

◆ ◆ ◆

(१५) अप्रत्याख्यान आणि प्रत्याख्यान : एक चिंतन

– कल्पना मुथा

सर्व संसारी आत्म्यांची स्वाभाविक स्थिती ही अप्रत्याख्यानी आहे. म्हणजेच कर्मबंधाने युक्त आहे. माणसाला जगायला अनेक आवश्यकता लागतात. परिवारपालन, उपजीविका, क्षुधानिवृत्ती यासाठी षट्कायिक जीवांचा सढळ हाताने वापर करणे, त्यांना त्रास देणे, त्यांच्यावर अधिकार गाजवणे, जरा कुठे अनुकूलता मिळाली की त्यांच्या सहवासात येऊन त्यांची हिंसा करणे ! अर्थात् हिंसा करणे हे जरी लक्ष्य नसले, त्यांच्याविषयी अनुकंपा, संवेदनशीलता असली तरी उदरनिर्वाहासाठी नाइलाजाने हिंसा होत रहाते आणि त्यांचा हा प्रवाह अखंडपणे चालू रहातो आणि तरी सुद्धा व्रत न घेता संसारात निवास करणे आणि षट्जीवांचा सहवास हेच सर्व जीवांच्या अविरतीचे कारण होय. आस्रवाचे कारण होय.

अप्रत्याख्यान हा स्वभाव आहे. तो सृष्टीचा नियम आहे. मानवी मनातल्या सगळ्या विकृती, दुष्प्रवृत्ती कोणत्या ना कोणत्या रूपात पापाच्या श्रेणीत येतात. यामुळे त्यांचे पापकर्मबंध हे चालू असतात. त्यापासून परावृत्त होण्यासाठी त्याचे निराकरण करण्यासाठी जैन परंपरेत प्रत्याख्यान (प्रतिक्रमण) ही एक महाऔषधी सांगितली आहे.

प्रत्याख्यान – प्रति + आ + ख्यान = निश्चितपणे त्याविषयी सांगणे. अर्थात् प्रत्याख्यान म्हणजे विरती, त्याग, प्रतिज्ञा, संकल्प.

प्रत्याख्यान ही अतिशय प्राचीन परंपरा आहे. १३ क्रियास्थानांच्या पलीकडे जाऊन ही क्रिया आहे. प्रत्याख्यान हे आत्म्याशी निगडित आहे. तसेच ते कर्मसिद्धांत व पुनर्जन्माशीही निगडित आहे. त्यामुळे विवेकपूर्वक सावद्यक्रियांचा

त्याग करावा. पाप हे नेहमी आपल्या मर्जीने होत असते आणि त्याला चालना देत राहिलो तर विनाशातच त्याचे परिणाम होतात. म्हणून प्रत्याख्यान हे १८ पापस्थानांचे करायचे, विशेषत: कषायांचे करायचे.

भूतकालीन जीवनाचे प्रामाणिकपणाने निरीक्षण करून जो काही पापरूपी कचरा आत पडला आहे, त्याचा सद्गुरू, अंतरात्म्याच्या साक्षीने पश्चात्ताप करावा (प्रतिक्रमणाद्वारे) व भविष्यात पुन्हा या दुष्प्रवृत्तीमुळे होणाऱ्या पापबंधापासून मुक्त होण्यासाठी संकल्प करावा.

संसारात आहोत तोपर्यंत राग, द्वेषरूपी कषाय हे (कर्माच्या उदयामुळे) राहणारच. पण त्याची तीव्रता, उग्रता राहता कामा नये. हीच सावधानता, जागरूकता यायला हवी.

मनात सतत केलेल्या पापाचे स्मरण हे ग्लानीला जन्म देते आणि हीच ग्लानी हीन भावना निर्माण करते. या पापामुळे परलोक व इहलोक दोन्हीकडे निंदानालस्ती, दु:ख भोगावे लागते. दुर्विचार, कुसंस्कार यापासून दूर रहाण्याकरिता 'प्रत्याख्यान' ही एक आध्यात्मिक साधना आहे. याने आत्मा हलका (भारहीन) होतो, शुद्ध होतो. म्हणून पापाचे, परिग्रहाचे, गुप्तीचे, समितीचे, परिषहाचे प्रत्याख्यान घेणे याला जैन साधनेत खूप महत्त्व आहे.

या पंचमकाळात मोठमोठी व्रत घेऊ शकत नाही, पण छोटे मोठे खानपानविषयक नियम तसेच इतरही नियम जसे, 'आज रागवायचे नाही', 'कोणाचीही निंदा करायची नाही', 'मौन धारण करायचे', 'एकेंद्रिय हिंसा टाळता येणार नाही पण संकल्पपूर्वक त्रसहिंसा करायची नाही'. अशा आपल्या आटोक्यातल्या नियमांनी त्या प्रत्याख्यानाचे ओझे वाटणार नाही. पण प्रत्याख्यान घेतलेच नाही तर कर्मबंधही चुकणार नाहीत.

प्रत्याख्यानाला प्रयत्नपूर्वक आणि तीव्र आत्मशक्तीची जोड लागते. विचार करणाऱ्या मनुष्ययोनीतच ही सर्व क्षमता आहे. प्रत्याख्यान हे चेतनच घेऊ शकतात, अजीव ते घेऊ शकत नाहीत. पंचेंद्रिय मनुष्य इच्छा असल्यास बऱ्याच प्रमाणात आणि पंचेंद्रिय तिर्यंच हे अल्प प्रमाणात प्रत्याख्यान घेऊ शकतात. क्षेत्राच्या प्रभावामुळे नारकी व देवगतीतले जीव प्रत्याख्यान घेऊ शकत नाहीत.

उपसंहार :

* जैन धर्मात सर्वात महत्त्वाचा सिद्धांत. महावीरांनी प्रत्याख्यान व प्रतिक्रमणाला नित्य आचारात स्थान दिले आहे.
* आहाराच्या मर्यादा घ्या, असा संकेत मिळाला नसून १८ पापस्थाने व कषाय यांची जाणीव करून दिली आहे.
* सर्व साधुआचार प्रत्याख्यानाशी जोडलेला आहे.
* शुभसंकल्प हेच प्रत्याख्यानाचे सार होय.
* प्रत्याख्यान हे फक्त आहाराचेच नसून भावशुद्धीला महत्त्व आहे.
* सुखासमाधानात असलेल्या व्यक्तीने, 'कुठे थांबायचे' हे ठरवावे आणि हेच प्रत्याख्यान शिकविते.
* आपल्यात असलेली प्रमादता, अविवेकता नष्ट करणे आणि जागरूकता निर्माण करणे हाच प्रत्याख्यान घेण्यामागील हेतू होय.
* प्रत्याख्यान घेणे, संयम पाळणे हे मोक्षप्राप्तीचे साधन होय.
* ही १८ पापस्थाने असली तरी त्या अंत:प्रवृत्ती आहेत. मानवी स्वभावात दडलेल्या भावभावना आहेत. त्या नाकारून चालत नाहीत. त्यांचा नाश

करता येत नाही. त्या योग्य, उचित, संयत ठेवाव्यात. या भावनांना थोडीही उत्तेजना दिली, थारा दिला तर तो प्रत्याख्यानाचा भंग होईल.

हे सर्व जाणून षट्जीवांविषयी आत्म्यौपम्य भाव ठेवावेत. त्यांचे भय वाढीला लागणार नाही यासाठी विलासितता, फॅशन, हौस, कोणत्याही चिकित्सा हे सर्व करताना त्या जीवांविषयी करुणा ठेवावी.

◆◆◆

(१६) सूत्रकृतांग (२) : काही विशेष व्यक्तिरेखा

– ज्योत्स्ना मुथा

सूत्रकृतांगाचा मुख्य विषय 'स्वसमय' व 'परसमय' आहे. अहिंसा, अपरिग्रह, आहार, साधुचर्या, १८ पापस्थाने, क्रियास्थाने, प्रत्याख्यानाचे महत्त्व, गुरु-शिष्य संबंध, त्याग-विरति, समाधिमरण यांद्वारे 'स्वसिद्धांत' सांगितला आहे. तर बौद्ध, सांख्य, वैदिक, चार्वाक इ. दर्शने व पंचमहाभूतवाद, तज्जीवत्च्छरीरवाद, ईश्वरकारणिकवाद व नियतिवाद इ. वादांचे ठिकठिकाणी उल्लेख करून 'परसिद्धांत' दर्शविला आहे. या सर्वांचा एकत्रित परिचय होतो तो 'पुण्डरीक', 'आर्द्रकीय' व 'नालंदीय' या अध्ययनात आलेल्या संवादांद्वारे. त्यात उठून दिसणाऱ्या व्यक्तिरेखा म्हणजे 'गोशालक', 'आर्द्रक', 'गौतम' व 'पार्श्वापत्य पेढालपुत्र'.

१) **गोशालक :** सूत्रांत प्रत्यक्ष नामोल्लेख नाही. चूर्णिकार, टीकाकाराच्या आधारे तसेच भगवतीसूत्रातील १५ व्या शतकाच्या आधारे, गोशालक स्वत:ला महावीरांचा शिष्य समजतो. सतत त्यांच्या मागोमाग फिरत व तप करत मंखलीपुत्र गोशालक अनेक प्रश्नांनी महावीरांना भंडावून सोडतो. पुढे जाऊन स्वत:चाच स्वतंत्र 'आजीवक' संप्रदाय स्थापन करून, महावीरांपेक्षा जास्त शिष्यसमुदाय जमवणारा, स्वत:लाच तीर्थंकर म्हणवणारा, आत्मप्रौढी असा गोशालक महावीरांच्या दर्शनाला निघालेल्या आर्द्रकाला मध्येच अडवून – 'महावीर कसे दुटप्पी आचरण करणारे, डरपोक, वणिक, चंचलवृत्तीचे, लोकसमूहात वावरणारे', अशी भरपेट निंदा करतो. तो धाडसी व मत्सरी असून स्वत:च्याच साधूंचे सचित्तजल, बीजकाय, आधाकर्मी आहार, स्त्रीसेवन इ. आचाराचे छातीठोकपणे समर्थनही करतो. असा हा 'स्पष्टवक्ता' गोशालक.

२) **आर्द्रक :** गोशालकाच्या अगदी उलट की ज्याने महावीरांना अजून प्रत्यक्ष पाहिलेही नाही. अनार्य देशातला, केवळ जातिस्मरणामुळे प्रव्रज्या धारण केलेला, महावीरांच्या दर्शनाच्या अतीव ओढीने निघालेला, परंतु तरीही रस्त्यात भेटलेल्या गोशालकाच्या प्रत्येक आक्षेपाला मार्मिकपणे खोडून काढणारा असा आर्द्रक. यावरूनच त्याचा निर्ग्रंथधर्मावर दृढ विश्वास दिसून येतो. 'वणिकाची उपमा एकदेशीय कशी सत्य आहे, कारण ते सर्वांचा आत्मिक लाभ पाहून उपदेश देतात, पण सर्वथा व्यापारी नाहीत' हेही पटवून देतो. यावरून 'रंगूनी रंगात साऱ्या, रंग माझा वेगळा' या पद्याची आठवण करून देणारे असे महावीर होते, हे आर्द्रकाच्या विवेचनातून स्पष्ट होते. आर्द्रक बुद्धिमान व वाक्पटू होता. तो बुद्धाच्या आहाराची उपहासात्मक टीका करतो तर सलगी दाखवणाऱ्या सांख्यांना झटकून टाकतो. असा हा 'व्यवहारी' आर्द्रक.

३) **गौतम, ४) पार्श्वापत्य पेढालपुत्र :** हे दोघे दोन वेगवेगळ्या तीर्थंकरांच्या परंपरेतले. तरी सहज शंका विचारणारा पार्श्वनाथांच्या परंपरेतील पेढालपुत्र. त्याच्या मनात प्रत्याख्यानाविषयी गैरसमज आहे, अज्ञान आहे, अनभिज्ञता आहे. तरीही संकोच न करता पृच्छा करतो. 'गौतम' पूर्वाश्रमीचे प्रकांड पंडित तर आता भ. महावीरांचे प्रथम गणधर तरीही निरभिमानी. गौतमाने पेढालपुत्राला त्रस व त्रसभूत शब्दातील साधर्म्य दाखवून सुप्रत्याख्यानाचे दिग्दर्शन, विविध उदाहरणाद्वारे करविले. आभार न मानता, जाणाऱ्या पेढालपुत्राला आपल्या वकिली बुद्धीने, कृतज्ञता व्यक्त करण्यास भाग पाडले. पेढालपुत्रानेही आपण आधीच्या परंपरेतील असूनही आपली चूक मान्य करून, चातुर्यामधर्म सोडून, सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रतात्मकधर्माचा

अंगीकार केला. गौतमाने विनयपूर्वक महावीरांकडून त्याला पंचमहाव्रतात्मक धर्म देऊन, श्रमणसंघात सम्मीलित केले. यावरून उदकपेढालपुत्राची सत्य जाणण्याची व पचविण्याची वृत्ती तर गौतम हे 'विद्या विनयेन शोभते'चे प्रतीक.

उपसंहार : वरील व्यक्तिरेखांमुळे सूत्रकृतांगातील मुख्य विषयाला पुष्टी मिळते. जसे एखाद्या चित्रपटात जर खलनायक नसेल तर नायकाचे कर्तृत्व दिसून येत नाही, त्याप्रमाणे गोशालकासारखा कृतघ्न शिष्य नसता तर महावीरांची आध्यात्मिक उंची दिसली नसती. त्यांच्या विचारांचे मंथन करविण्यास व पंचमहाव्रतांचे नवनीत काढण्यात गोशालकाच्या आरोपांचा खूप मोठा वाटा आहे. एवढे असूनही गोशालकाच्या 'नियतिवादा'ला षड्दर्शनात स्थान मिळाले नाही हेही आश्चर्यच !

स्वत:चे मत स्वच्छ व स्पष्ट असेल तर विरोधीही आपलासा करता येतो, हे गौतम-पेढालपुत्राच्या संवादावरून स्पष्ट होते जे आजच्या राजकारण्यास उपयोगी आहे. अनेक मतप्रवाह असले तरी वादविवाद न करता सुसंवाद साधता येतो, यावरही येथे प्रकाश पडतो. समन्वयवृत्ती, कृतज्ञता, परस्परांमधील आदर इ. गुणांची जोपासनाही दिसून येते. गौतम-महावीर म्हणजे 'ग्रंथ' अध्ययनातील गुरु-शिष्य नात्याचा आदर्श परिपाक होय, जे आजच्या शिक्षण व्यवस्थेसाठी अतिशय मार्गदर्शक आहे.

थोड्या फार त्रुटी वगळता 'स्वसमय-परसमय' या केंद्रस्थानी असलेल्या विषयाला, वरील व्यक्तिरेखांमुळे रोचकता आली आहे. पक्षांतर, धर्मांतर करणाऱ्यांसाठी हा जणू आदर्श वस्तुपाठच आहे.

◆◆◆

(१७) सूत्रकृतांग : एक सम्पूर्ण आगम

– हंसा नहार

१) एक गाथा में सार –

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो, किं वा जाणं तिउट्टई ? ।।

सम्पूर्ण आगम का सार, सूत्रकृतांग का सम्पूर्ण तत्त्वचिन्तन इस गाथा में समाविष्ट हो गया है । देखने में आता है कि कुछ लोग ज्ञानी हैं, पर क्रिया में उदासीन हैं । कुछ लोगों में क्रिया है, पर वे ज्ञान में उदासीन हैं । दोनों प्रकार के मनुष्य बन्धन यानी अष्टकर्मबन्धन और आरम्भ-परिग्रह से दूर नहीं हो सकते ।

क्रियाजड के उदाहरण – मेरा तो तप हमेशा चालू रहता --- क्या तप को समझा ? रसनेन्द्रिय पर संयम आया ? मैं तो मन्दिर गये बिना पानी भी नहीं पीती --- क्या भगवान को समझा ? मैं तो रोज की चार सामायिक करती हूँ --- क्या समताभाव आया ?

शुष्कज्ञानी का उदाहरण – मैं तो जैनॉलॉजी की परीक्षा में हमेशा प्रथम आती हूँ --- आचार में कुछ आया ?

जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त - 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष: ।'

२) तीन अध्याय जिसमें अन्य मतों, दर्शन एवं उनकी मान्यताओं की चर्चा –

अ) स्वसमय और परसमय का प्रतिपादन है ऐसा प्रथम श्रुतस्कन्ध का प्रथम 'समय' अध्ययन ।

ब) जहाँ अनेक दर्शनों या दृष्टियों का संगम होता है ऐसा प्रथम श्रुतस्कन्ध का बारहवाँ 'समवसरण' अध्ययन ।

क) श्वेत कमल की उपमा के माध्यम से धर्म, धर्मतीर्थ तथा निर्वाण के महत्त्व को समझानेवाला, एक ललित काव्य । कल्पना का रसास्वाद करानेवाला द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम 'पुण्डरीक' अध्ययन ।

आधारस्तम्भ, तीन तत्त्व हैं – जीव, जगत्, आत्मा । परन्तु भारतीय संस्कृति मुख्य रूप से आत्मा के इर्दगीर्द घूमती है । आत्मा के बन्धन एवं मुक्ति ही प्रत्येक धर्मदर्शन का लक्ष्य है । आत्मवाद, कर्मवाद, परलोकवाद, मोक्षवाद इन चार विचारों में भारतीय दर्शनों के सामान्य सिद्धान्त समाविष्ट होते हैं । उस समय कितनी धारणाएँ और मतमतान्तर चलते थे ? ३६३ मत थे । भ. महावीर ने सभी मान्यताओं को, स्याद्वाद की स्थापना कर, समन्वय करते हुए उस युग को प्रभावित किया । उनकी मान्यताएँ मात्र बौद्धिक ही नहीं, व्यावहारिक भी हैं ।

यद्यपि सूत्रकृतांग जैनदर्शन का ग्रन्थ है, फिर भी उसमें जैनेतर मान्यताओं का विवेचन इसलिए प्रासंगिक है कि साधक विभिन्न धारणाओं–मान्यताओं को समझकर, यथार्थ को सम्पूर्ण आस्था और श्रद्धा के साथ स्वीकार करे । क्योंकि मिथ्यात्व की बेडी सबसे भयानक है ।

३) दार्शनिक संवाद –

यह एक दार्शनिक संवाद है जो उपनिषदों के शैली की याद दिलाता है । द्वितीय श्रुतस्कन्ध का छठाँ 'आर्द्रकीय' अध्ययन पाँचों मतावलम्बियों (गोशालक, बौद्धभिक्षु, ब्राह्मण, एकदण्डी, परिव्राजक (सांख्य), हस्तितापस) के साथ आर्द्रककुमार का जो वाद–प्रतिवाद हुआ, उसका इसमें संकलन है । इसमें आर्द्रकमुनि सरस–कथा शैली में, संवादों के रूप

में, भ्रान्त मान्यताओं का निराकरण करके, स्वमान्यता की प्रस्थापना, बडी सहजता के साथ करते हैं ।

'आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे एगंतयं सारयती तहच्चे ।' (२.६.४) अध्यात्मयोग की यह महान अनुभूति आर्द्रक ने सिर्फ दो शब्दों में ही व्यक्त करके गोशालक की बाह्य दृष्टि-परकता को ललकार दिया है । क्योंकि वे अभी तक उनसे मिले नहीं थे । संवादों में इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियों से आर्द्रकीय अध्ययन बडा ही रोचक व शिक्षाप्रद बन गया है ।

उपसंहार :

द्वितीय अंग आगम की तुलना बौद्ध परम्परा मान्य 'अभिधम्मपिटक' से की जाती है । सूत्रकृतांग में जहाँ जैनदर्शन की प्रमुख मान्यताओं का वर्णन-विश्लेषण है, वहीं भारतीय संस्कृति में उपजी समस्त मान्यताओं का भी विस्तारपूर्वक प्रामाणिकता से विवेचन है । अगर कोई यह कहे कि एक सम्पूर्ण आगम का नाम बताइए, जिसे पढने पर सम्पूर्ण भारतीय दर्शन तथा जैन आचारसंहिता का अध्ययन हो सके, तो निःसंदेह सूत्रकृतांग का नाम सर्वप्रथम उभर आता है । दर्शन के साथ जीवन व्यवहार के उच्च आदर्श भी यहाँ उपस्थित हैं । कपट, अहंकार, जातिमद, ज्ञानमद आदि पर भी कठोर प्रहार किये हैं । सरल, सात्विक, सामाजिक जीवन दृष्टि को विकसित करने की प्रेरणा सूत्रकृतांग से मिलती है ।

७) **नालंदीय अध्ययन –** यात प्रथम गणधर इंद्रभूति गौतमांचा उपदेश आहे. यामध्ये प्रथमच 'श्रावकाचार' मांडला आहे.

सर्व अंगांचे सार म्हणजे ‘आचारांग’ यात अहिंसा, समता, वैराग्य, प्रमाद इ. मुद्दे आहेत. कठीण, क्लिष्ट लहान सूत्रातून गहन अर्थ सांगितला आहे. भद्रबाहूंना हा अपुरा वाटला. म्हणून त्यांनी भाग दोन जोडला असावा, असे एक मत आहे. दुसऱ्या श्रुतस्कंधात त्यांनी साधूंसाठी वस्त्र, पात्र, भिक्षा, चातुर्मास हे सर्व नियम सांगितले आहेत. समजायला सोपे आहे. प्रथम भागात संक्षिप्त सूत्रे तर दुसऱ्या भागात मोठमोठी वाक्ये आहेत. आचारांगाचे श्रुतस्कंध वेगळे आहेत. तर सूत्रकृतांगाचे दोन्ही भाग एकमेकाला पूरक असून व पद्यमय भाग एकाच नाण्याच्या दोन बाजू आहेत, असे वाटते. मोठमोठी वाक्ये असली तरी सर्व अर्थपूर्ण आहेत.

उपसंहार :

वैदिक परंपरेत उपनिषदांचे जे स्थान आहे ते जैन परंपरेत सूत्रकृतांगाचे आहे. इतरांचे विचार देताना त्यांचे जैनीकरण केले नाही. यात जैनांच्या मनाचा प्रांजळपणा दिसतो. सूत्रकृतांगाच्या चर्चा जेवढ्या ज्ञानाच्या बाजूने जातात तेवढ्याच व्यवहाराच्या बाजूनेही जातात. पुस्तकीज्ञान हेच केवळ ज्ञान नसून, व्यवहारज्ञान हेही ज्ञान असल्यामुळे नागरिकशास्त्राचे वेगळे धडे देण्याची गरज जैनांना एका अर्थाने नाहीच.

◆ ◆ ◆

(१८) सूत्रकृतांग (२) : एक चिंतनसप्तक

– अर्जुन निर्वाण

सूत्रकृतांगाच्या दुसऱ्या श्रुतस्कंधात एकूण सात अध्ययने आहेत. यातील काहीशा वेगळ्या वाटणाऱ्या गोष्टींचा अध्ययनक्रमाने केलेला हा विचार –

१) **पुंडरीक अध्ययन –** एका सरोवराच्या मध्यभागी असणाऱ्या सुंदर कमळाच्या प्राप्तीसाठी चारही दिशांनी आलेल्या पुरुषांनी केलेले प्रयत्न व त्यांना त्यात आलेले अपयश. तर एका भिक्षूने केवळ तीरावर उभे राहून आवाहन करताच, त्या कमळाचे स्वत:हून त्याकडे जाणे असा हा दृष्टांत.

या दृष्टांतात आजच्या आधुनिक 'व्यवस्थापन शास्त्रातील' काही रहस्ये दडलेली आहेत, असे मला जाणवले. 'जो उत्कृष्टतेचा ध्यास घेतो, त्याचे ध्येय आपणहून त्याकडे येते', असा संदेश यात दिलेला दिसतो. परंतु त्यासाठी 'न थकता अविरत परिश्रम करण्याचा मंत्रही जपायला हवा, याचे दिग्दर्शनही यात आढळते. व्यवस्थापन शास्त्रातल्या विद्वानांनी या भूमिकेतून हे अध्ययन अभ्यासायला हवे.'

२) **क्रियास्थान अध्ययन –** पहिल्या अध्ययनातील ध्येयप्राप्तीच्या दृष्टीने केलेले प्रयत्न म्हणजे 'क्रियास्थान' अध्ययनातील 'कर्मांचे प्रकार'. यातही भर दिलेला आहे तो वाईट क्रियास्थानांवर. असे का असावे ? –

कोणाही व्यक्तीला भुरळ पडते ती अशा इतरांचे अप्रिय होणाऱ्या गोष्टींची. त्यातून कदाचित आसुरी समाधान मिळत असावे. **उदा.** दूरदर्शनवरील सर्व महिलाप्रिय मालिका, गुन्हेगारीविषयक बातम्या इ. याचा दूसरा पैलू असाही असू शकतो की माणसाला त्याच्या वाटेवरील

अडचणी, अडथळे, खाचखळगे यांची कल्पना द्यावी, जेणेकरून मार्गक्रमण करणे सुलभ व्हावे.

३) **आहारपरिज्ञा –** सर्व जीव कोणता आहार करतात हे सांगताना येथे वनस्पतिकायिकांचे सविस्तर वर्गीकरण दिले आहे. केवळ निरीक्षणातून ही शास्त्रीय माहिती आपल्यापुढे त्यांनी ठेवली आहे. आजच्यासारखी उपकरणे त्याकाळी उपलब्ध असती तर त्यांचेही अजून अधिक सविस्तर वर्गीकरण केले गेले असते. पण आहे तीही माहिती अत्यंत मौलिक व अभ्यासपूर्ण वाटते.

आजच्या वनस्पतिशास्त्रज्ञांनी, जीवशास्त्रीय जाणकारांनी, भूगर्भशास्त्रज्ञांनी याचा अभ्यास करून त्यातील शास्त्र पुढे आणले पाहिजे. तसेच सर्व जीव हे सचित्तच आहार करतात हेही ठामपणे सांगून, आपल्या भ्रामक समजुतींना एक निश्चित धक्का देऊन, विचारप्रवृत्त केले आहे हे नक्की.

४) **व ५) प्रत्याख्यानक्रिया अध्ययन व नालंदीय अध्ययन –** ‘प्रत्याख्यान’ ही महावीरांची जैनदर्शनाला दिलेली मोठी देणगीच म्हणावी लागेल. प्राय: ‘सर्वच जीव अप्रत्याख्यानी असतात’, असे सांगून दोषांसकट सर्व संसारी जीवांचा स्वीकार केलात, हेच आपले मोठेपण. पण जीवांची सार्वयोनिकता असल्यामुळे पार्श्वापत्यांना प्रत्याख्यान विरोधाचे हत्यार मिळाले. हा अंतर्गत संघर्षदेखील समर्थपणे हाताळला.

श्रावकाचारातही प्रत्याख्यानाचे महत्त्व तर्कदृष्ट्या पटवून देऊन त्याचे सुस्थापन केले व ते इतके दृढ झाले की आज ते दैनंदिन जीवनात रुळून गेले.

६)	**आचारश्रुत अध्ययन –** साधूंच्या वाक्संयमाचा उल्लेख करताना तो केवळ त्यांचा न राहता, सर्व मानवांना लागू पडतो. कारण आजच्या अतिसंवेदनशील युगात बोलण्यावर लगाम घातला नाही तर काय घडते, हे पदोपदी आपण अनुभवत आहोत. सामाजिक शांतता व सलोख्यासाठी वचनगुप्तीचे महत्त्व अनन्यसाधारण आहे.

७)	**आर्द्रकीय अध्ययन –** समवशरणमधील वेगवेगळ्या मतप्रवाहातील काही संप्रदायांच्या विचारधारांनी, जैनांना दिलेले आवाहन यात दिसून येते. महावीरांना कधीही न पाहिलेल्या आर्द्रकाला, आपल्या संप्रदायात सामील करण्यासाठी गोशालक, बौद्ध, वैदिक ब्राह्मण, सांख्यश्रमण व हस्तितापस यांचे प्रयत्न. त्यातही महावीरांचा सहवास लाभलेला गोशालक महावीरांवर जास्त प्रकाश टाकतो. इतर अन्यमती मात्र आहारचर्चेतच अडकून राहतात, ही यातील मोठी उणीव दिसते. पण अन्यमतावलंबियांच्या मतांचा जसाच्या तसा उल्लेख करणे, यात जैनदर्शनाचा 'उदारमतवादी' दृष्टिकोण दिसून येतो, जो आपल्या वागण्यात आणला पाहिजे.

आचारांगाची सुरवात 'षड्जीवनिकाय व त्यांच्या रक्षेने' झाली तर सूत्रकृतांगाचा शेवट 'षड्जीवनिकायांच्या रक्षेनेच' झाला आहे. अशा प्रकारे आचारांग व सूत्रकृतांगाच्या सर्व अध्ययनातून समता व अहिंसेचा अंत:प्रवाह झुळझुळत आहे. त्याला प्रत्याख्यानाची जोड देऊन दैनंदिन जीवनाचा एक भाग बनविण्याचे मोठे कार्य केले आहे. हाच आशय बाकीबाब (कविवर्य बा.भ.बोरकर) आपल्या सुंदर कवितेतून व्यक्त करतात. तो असा की – 'जीवन त्यांना कळले हो, मीपण ज्यांचे पक्व फळापरि, सहजपणाने गळले हो.'

◆◆◆

(१९) मला भावलेले आचारश्रुत

– लीना संचेती

परिवर्तन हा निसर्गाचा नियम आहे व आजचे युग हे व्यावहारिक व वैज्ञानिक युग आहे. विज्ञानात कार्य–कारण–भाव (cause-effect-relation) असल्याने आपले म्हणणे पटवून देण्यात तो यशस्वी झाला आहे. तरीसुद्धा सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद ह्या दोन दृष्टिकोनांमुळे काही गोष्टी विज्ञानाला सुद्धा गृहीतच मानून चालाव्या लागतात.

दार्शनिक जगात जेथे जेथे ज्ञान व सम्यक्त्वाचे वर्णन येते तेथे तेथे आचाराचेही वर्णन येतेच. सूत्रकृतांगाच्या दुसऱ्या श्रुतस्कंधातील 'आचारश्रुत' अध्ययनात आचार–अनाचार, नवतत्त्व, षट्द्रव्य याविषयी चर्चा तर आहेच पण त्याचबरोबर अनेकांतवादी दृष्टिकोणाची सीमारेषा व वाणीचा विवेक हेही या अध्ययनाचे वैशिष्ट्य आहे.

आचारश्रुत अध्ययन आवडण्याचे कारण असे की, यात विज्ञानासारखी अनेक कृत्ये, Theory of Relativity सारख्या अनेक संज्ञा आहेत. परिभाषा जरी वेगळी असली तरी साम्यही आहे. 'शून्यवाद', 'मायावाद' या गोष्टी जैनांना मान्य नाहीत. सूत्रकाराने यात अस्तित्वातील आधारभूत तत्त्वांवर, 'साधूंनीच काय तर कोणत्याही सामान्य व्यक्तिनेही एकांगी विचार करू नये', अशा गोष्टींची यादी जोडीरूपाने दिली आहे. भ. महावीरांनी 'इइ दिट्ठिं न धारए', 'इति वायं न नीसरे'–अशा प्रकारे कोणती दृष्टी धारण करावी व कशाप्रकारे वाणीचा संयम ठेवावा, यावर दिलेला भर दिसून येतो.

जगातील सगळ्या भूमिती या मानवी मनाच्या संज्ञा आहेत. 'लोक–अलोक'मधील कोणाच्याही नजरेत न बसलेले 'अलोक' अस्तित्वात आहे व ही

संकल्पना जैनांनीही मानली आहे. केवळ ‘जीवा’लाच श्रेष्ठत्व न देता ‘अजीवा’लाही तेवढेच महत्त्व देणारे जैनच होत. ‘धर्म-अधर्मा’ला गती-स्थितीशील मानून आजच्या भौतिकशास्त्रातला जवळचा सिद्धांत मांडलेला आढळतो. व्यावहारिक जीवनात ‘मोक्षाएवढेच’ ‘बंधनालाही’ महत्त्व दिले आहे. आयुष्यभर बंधनात राहणारी मानसिकताही खरीच आहे व त्यापलीकडचा ‘मोक्ष’ म्हणजे सुटका, हीही तेवढीच महत्त्वाची आहे. नैतिक दृष्टिकोनाच्या संकल्पनेतून जैनांची अठरा ‘पापस्थाने’ व नऊ ‘पुण्यांची’ संकल्पना जगात सर्वमान्य आहे, हे मात्र दिसत नाही. उलट जे आपल्या वाट्याला आले आहे, ते प्रामाणिकपणे पार पाडणे, हा मोठा नैतिक सद्गुणच सर्वमान्य आहे. ही नीतिमूल्ये आचरणात आणताना व्यावहारिक गरजा वाढविणे म्हणजे ‘आस्रव’ व त्या कमी करणे म्हणजे ‘संवर’च होय.

आचारश्रुत अध्ययनात ‘वाक्-संयमा’लाही खूप महत्त्व दिले आहे. येथे ‘सापेक्षतावाद’ खूप लागू पडतो. शंका उत्पन्न करणाऱ्या काही गोष्टींची विधाने करू नयेत, तर काही विधाने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाप्रमाणे न लावता, दैनंदिन व्यवहाराप्रमाणे लोककथन करण्याकडे महावीरांचा ओढा दिसतो. तसेच काही अंतर्मुख करणाऱ्या गोष्टी सामूहिक नसून वैयक्तिक असतात. जसे - मुक्ती, मोक्ष, केवलज्ञान, अगदी एकटेपणासुद्धा.

सूत्रकृतांगातील वैचारिक उदारमतवाद, सर्व जगाकडे पाहण्याची दृष्टी या श्रुतस्कंधात आढळते. सामुदायिक प्रवचनातून दिसलेला भावनिक पावित्र्याचा मूळ गाभा कायम ठेवून, ‘काळानुसार परिवर्तन’, हा जैनधर्माचा स्वभाव जाणवतो. ‘आपण उच्चारलेले प्रत्येक वाक्य हे एकांगी सत्य असू शकते’, हा सापेक्षतावाद मनात घर करून गेला.

सत्याला पाहण्याच्या दृष्टिकोणाचे अनेक अंश दिसून आले. व्यक्त करणाऱ्या शब्दाला मर्यादा आहेत हा सापेक्षतावाद, दुसऱ्या अर्थाने अनेकांतवाद म्हणजे खुले मन. सत्य हे अत्यंत व्यामिश्र आहे.

काही गोष्टी तात्कालिक असतात तर काही त्रैकालिक सत्य असतात. वचनगुप्तीचे पालन कसे महत्त्वाचे व जाहीर प्रतिक्रिया कशी घातक असू शकते, हीदेखील या अध्ययनातून मिळालेली जाणीव होय. 'असेल', 'असू शकेल' किंवा 'असेलही कदाचित्'-अशी स्वत:ला समजवण्याची ताकद मिळाली.

अनेकांतवाद हे केवळ धर्मतत्त्व नसून ते आयुष्यात प्रत्यक्ष व्यवहारात उतरवण्याचे तत्त्व आहे. हाच सापेक्षतावाद, हाच अनेकांतवाद, हीच बौद्धिक उदारता व सहनशीलता माझ्यातही यावी हीच भावना !!!

◆◆◆